खंड 3
वैदिक काल और संस्कृतियों में परिवर्तन

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 8 वैदिक काल-I*

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 स्रोत

8.2.1 साहित्यिक स्रोत

8.2.2 पुरातात्विक साक्ष्य

8.3 आर्यों का आक्रमण : कल्पित या वास्तविक?

8.4 अर्थव्यवस्था

8.5 समाज

8.6 राजनैतिक व्यवस्था

8.7 धर्म

8.8 सारांश

8.9 शब्दावली

8.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

8.11 संदर्भ ग्रंथ

8.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- उन अनेक स्रोतों के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे, जिनसे हम प्रारंभिक वैदिक काल के विषय में जान सकते हैं;
- इन स्रोतों के माध्यम से इन्डो-आर्यों के व्यापक स्तर पर स्थानांतरण के सिद्धांत का परीक्षण कर सकेंगे; और
- प्रारम्भिक वैदिक काल की अर्थव्यवस्था, समाज, राजनीति एवं धर्म की विशेषताओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

पहले की इकाइयों में आपने देखा कि लगभग 2000-1000 बी.सी.ई में भारत के विभिन्न क्षेत्रों में सांस्कृतिक रूप से असमान विकास वाली सभ्यताएँ पायी गई थीं। ये सभ्यताएँ अनिवार्यतः कृषि-पशुपालन पर आधारित थीं और चूंकि इन सभ्यताओं ने सिवाय हड़प्पा सभ्यता के कोई लिखित प्रमाण नहीं छोड़े हैं, अतः इनके बारे में केवल पुरातात्विक अवशेषों से ही जानकारी मिलती है। इस और अगली इकाई में हम धार्मिक अभिलेखों के उस विशाल भण्डार का अवलोकन करेंगे, जिसे भारत का प्राचीनतम् साहित्यिक प्रमाण माना जाता है। इस प्रमाण की पुष्टि हम पुरातात्विक साक्ष्यों द्वारा यथासम्भव करेंगे। *ऋग्वेद* को प्राप्य मंत्रों का प्राचीनतम संग्रह माना जाता है अतः हम पहले *ऋग्वेद* का ही अध्ययन करेंगे ताकि आरंभिक

* यह इकाई ई.एच.आई.-02, खंड-3 से ली गई है।

वैदिक काल के विषय में जानकारी मिले। इसके बाद अन्य *वेदों* और उनसे सम्बद्ध साहित्य का अध्ययन करेंगे। इस प्रकार के अध्ययन के दो लाभ हैं।

पहला, आर्यों को *वेदों* का रचयिता माना जाता है और साथ ही यह बहुत समय तक समझा गया कि भारतीय उपमहाद्वीप में संस्कृति के विकास में आर्यों की प्रमुख भूमिका रही। *ऋग्वेद* की सामग्री के सूक्ष्म परीक्षण से यह नहीं लगता कि उस समय की भौतिक सभ्यता बहुत विकसित थी। बल्कि इसके विपरीत भारतीय सभ्यता की तमाम विशिष्ट भौतिक विशेषताएँ ऐसी हैं जो भारत के विभिन्न भागों में पायी गयी ऐसी पुरातात्विक संस्कृतियों में मौजूद थीं जिनका वैदिक काल से कोई संबंध नहीं था। दूसरा, *ऋग्वेद* और उसके बाद के *वेदों* और सम्बद्ध साहित्य से प्राप्त सामग्री की तुलना करने से यह पता चलता है कि वैदिक समाज के अंदर भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए थे। तात्पर्य यह है कि कोई ऐसा सुनिश्चित सांस्कृतिक ढाँचा नहीं था जिसे वैदिक संस्कृति या आर्य संस्कृति कहा जा सके।

ऋग्वेद के प्रमाण सप्त सिन्धु अर्थात् सात नदियों की भूमि वाले भौगोलिक क्षेत्र से सम्बद्ध है। यह क्षेत्र पंजाब और निकटवर्ती हरियाणा का है। किन्तु *ऋग्वेद* के भूगोल में गोमती के मैदान, दक्षिणी अफ़ग़ानिस्तान और दक्षिणी जम्मू कश्मीर भी सम्मिलित हैं।

प्रारंभिक व्याख्याओं के अनुसार, इंडो-आर्यों के स्थानांतरण का सिद्धांत इस तथ्य पर आधारित हैं कि वे पश्चिम एशिया से भारतीय उप-महाद्वीप में आये। ये प्रवासी *वेदों* के रचयिता माने जाते हैं इसलिए इनको वैदिक जन कहा गया है। इस ऐतिहासिक व्याख्या के अनुसार, आर्य कई झुण्डों या चरणों में भारत आये।

आर्यों को एक भाषाई समूह जो कि इंडो यूरोपीय[1] भाषाओं को बोलने वाला था, समझा गया है। परम्परागत इतिहासकारों एवं पुरातत्ववेत्ताओं द्वारा उनको गैर आर्य हड़प्पावासियों से भिन्न प्रकार का माना गया है।

तथापि प्रारम्भिक वैदिक समाज की टीका करने के लिए यह देखना लाभदायक होगा कि, साहित्यिक रचनाओं और पुरातात्विक साक्ष्यों में पूरकता है या नहीं। यदि ये दोनों प्रकार के स्रोत एक ही काल और क्षेत्र से सम्बद्ध हों तो इन्हें मिला कर आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक जीवन के बारे में अधिक विस्तृत जानकारी और विचार मिल सकते हैं। आइए, हम इन स्रोतों की चर्चा करें।

8.2 स्रोत

प्रारम्भिक वैदिक समाज के अध्ययन के लिए मुख्यतः हमारे पास दो प्रकार के स्रोत हैं – साहित्यिक तथा पुरातात्विक। आइए, पहले हम साहित्यिक स्रोतों का अध्ययन करें।

8.2.1 साहित्यिक स्रोत

साहित्यिक स्रोत के रूप में हमारे पास चार वैदिक ग्रंथ हैं :

- *ऋग्वेद,*
- *सामवेद,*
- *यजुर्वेद,* और
- *अथर्ववेद*।

[1] 'इंडो-यूरोपियन' शब्द प्राचीनतम् भाषाओं के समान मूल भाषाई परिवार को दर्शाती है। संस्कृत, ईरानी, लैटिन, ग्रीक, जर्मन और अन्य यूरोपीय भाषाओं को जिन्हें दक्षिण-पश्चिम एशिया, यूरेशिया और यूरोप में बोला जाता है, इस 'इंडो युरोपिन' की वंशज मानते हैं। ये भाषाएँ आत्मीयता और समानता साझा करती हैं।

इनमें *ऋग्वेद* सबसे प्राचीन रचना है।

''*वेद*'' शब्द को संस्कृत में ''विद'' से लिया गया है जिसका भावार्थ है ''ज्ञान होना''।

''*वेदों*'' में प्रार्थनाओं और श्लोकों का संकलन है और इनकी रचना बहुत से कवियों तथा महाऋषियों के परिवारों ने देवताओं के सम्मान में की। इन चारों *वेदों* को ''संहिता'' भी माना जाता है क्योंकि उस समय की मौखिक परम्परा के प्रतीक हैं। चूँकि श्लोक का तात्पर्य था उसका पाठ करना, उसको कंठस्थ करना तथा मौखिक रूप से उसको स्थान्तरित कर देना, अतः जिस समय इनको संकलित किया गया उस समय इनको लिखा नहीं गया। इसी कारणवश किसी भी संहिता के रचना काल को पूर्ण निश्चय के साथ नहीं बताया जा सकता। वास्तव में प्रत्येक संहिता कई शताब्दियों के दौर में हुए संकलन का प्रतिनिधित्व करती हैं। इन चारों संहिताओं में वर्णित विषय-वस्तु के आधार पर विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि *ऋग्वेद* की रचना लगभग 1500 बी.सी.ई से 1000 बी.सी.ई के मध्य में हुई होगी।

ऋग्वैदिक संहिता में 1028 सूक्त हैं, जिन्हें असमान आकार की 10 पुस्तकों (*मण्डलों*) में विभाजित किया गया है। 2-7 तक की पुस्तकों को कालक्रम की दृष्टि से सबसे पहले का माना जाता है। और ये आरंभिक वैदिक काल से संबंधित है।

विद्वानों का मत है कि *ऋग्वेद* और ईरान के प्राचीनतम ग्रंथ *अवेस्ता* जो *ऋग्वेद* से भी पहले की रचना है, में समान भाषा का प्रयोग हुआ है। इन भाषाई समानताओं के आधार पर तथा कालक्रम में *अवेस्ता* को *ऋग्वेद* का अग्रगामी बताते हुए विद्वानों ने अपने मत व्यक्त किये हैं –

1) इन दोनों ग्रंथों में वर्णित लोग एक समान बहु-भाषा समूह का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनका स्थानांतरण पश्चिम एशिया एवं ईरान से भारतीय उप-महाद्वीप की ओर हुआ। ये लोग ''आर्य'' कहलाये।
2) आर्यों का मूल स्थान एक ही था जहाँ से वे विभिन्न समूहों में यूरोप एवं पूर्व की ओर स्थानांतरित हुए।

तथापि, आर्यों के उत्पत्ति-स्थल के विषय में वाद-विवाद की वैधता अब समाप्त हो चुकी है क्योंकि समान जातीय पहचान की अवधारणा को गलत साबित किया गया है। परंतु एक समान भाषाओं की अवधारणा के आधार पर इतिहासकार आर्यों के स्थानांतरण के सिद्धांत पर विश्वास करते हैं और कुछ इतिहासकार इस पर विशेष ज़ोर देते हैं।

8.2.2 पुरातात्विक साक्ष्य

पिछले 40 वर्षों में सिंधु व घग्घर नदियों के किनारे, पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा उत्तरी राजस्थान में उत्खनन के द्वारा इन क्षेत्रों से हड़प्पा काल के बाद के उन्नत ताम्र पाषाण संस्कृति के अवशेषों को खोद निकाला गया है। इनका समय 1700 बी.सी.ई से 600 बी.सी.ई के मध्य का है। आपने पहले की इकाई में इस बारे में पढ़ा है। आपने देखा है कि इन ताम्र पाषाण संस्कृतियों को उत्तर हड़प्पा, ओ.सी.पी. (गेरु रंग के मृद्भांड), बी.आर.डब्ल्यू. (काले-और-लाल मृद्भांड) और पी.जी.डब्ल्यू. (चित्रित धूसर मृद्भांड) के नामों से (अपनी विशेषताओं के कारण) पुकारा जाता है।

तथापि, हमें यह याद रखना चाहिए कि मिट्टी के बर्तन (मृद्भांड) बनाने वाली शैली उस समय के लोगों की सम्पूर्ण संस्कृति का प्रतीक नहीं थी। विभिन्न प्रकार के मृद्भांड निर्मित करने की शैलियों का अनिवार्यतः यह अर्थ कदाचित नहीं है कि इन बर्तनों का प्रयोग करने

वाले लोगों में भी अन्तर था। विश्लेषण किसी सांस्कृतिक संग्रह के एक विशेष लक्षण को ही परिभाषित करता है, इससे अधिक नहीं। कुछ विद्वानों ने वैदिक साहित्य और उत्तर-पश्चिमी तथा उत्तरी भारत में प्राप्त इन संस्कृतियों के संकेतों का तुलनात्मक अध्ययन करने का प्रयास किया है।

8.3 आर्यों का आक्रमण : कल्पित या वास्तविक?

क्या आर्यों का आक्रमण एक कल्पना मात्र थी या वास्तविकता? अब हमें यह देखना है कि किस सीमा तक पुरातात्विक साक्ष्य इस प्रश्न का उत्तर जानने में हमारी मदद कर सकते हैं।

पुरातात्विक विद्वानों ने बहुत सी उत्तर-हड़प्पा संस्कृतियों को आर्यों से जोड़ने का प्रयास किया है। चित्रित धूसर बर्तनों की संस्कृति को बार-बार आर्यों की शिल्पकारिता के साथ जोड़ा जाता है और इसको लगभग 900 बी.सी.ई. से 500 बी.सी.ई. के मध्य का माना गया। उनका तर्क उन अनुमानों पर आधारित है जिनको इतिहासकारों ने साहित्यिक रचनाओं के विश्लेषण के द्वारा निकाला था। तथापि, *ऋग्वेद* एवं *अवेस्ता* के बीच पाई जाने वाली भाषागत समानता का अनुसरण करते हुए पुरातत्वविदों ने, बर्तनों की किस्म, मिट्टी के बर्तनों पर चित्रण और तांबे आदि की वस्तुओं के बीच समानता दिखा कर उत्तर-हड़प्पा तथा पश्चिम एशिया/ईरानी ताम्र पाषाण संग्रह के मध्य समानता के चिन्ह खोजने की चेष्टा की है। इस प्रकार की अतिरंजित समानताओं ने इतिहासकारों के इस निष्कर्ष को बढ़ावा दिया है कि आर्य उन लोगों का समूह था जिन्होंने पश्चिम एशिया से भारत की ओर स्थानांतरण किया था। इस प्रकार साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों को एक दूसरे का पूरक बना कर स्थानांतरण के सिद्धांत की वैधता को पुष्ट किया गया।

ऋग्वेद तथा *अवेस्ता* के मध्य भाषागत समानताओं को लेकर कोई विवाद नहीं है। परंतु इस प्रकार की समानता ये नहीं दर्शाती कि विशाल स्तर पर लोग भारतीय उपमहाद्वीप में स्थानांतरित हुए। दूसरा ये कि भारत में ताम्र पाषाण शिल्प अवशेषों और पश्चिम एशिया में पाए गए शिल्प अवशेषों के बीच समानता कम ही पायी जाती है। यह भी विशाल स्तर पर लोगों के स्थानांतरण को नहीं दिखाता। ''आर्य'' अवधारणा की जैसा कि पहले कहा गया, मृद्भांड की किसी एक शैली के आधार पर पहचान नहीं की जा सकती और न ही इसका नस्लीय या जातीय आधार पर अब कोई महत्त्व है। ''आर्य'' एक खोखली अवधारणा है जो लोगों के बीच भाषागत समानता से संबंधित है।

इस विषय में आपको उत्खनन द्वारा प्रस्तुत किये गये निम्नलिखित निष्कर्षों का ध्यान रखना चाहिए।

1) प्रारम्भिक विद्वानों का विश्वास था कि इंडो-आर्य हड़प्पा सभ्यता के पतन का कारण थे, उन्होंने हड़प्पा के नगरों तथा शहरों का सर्वनाश किया। उन्होंने *ऋग्वेद* के उन श्लोकों को उद्धृत किया जिसमें इंद्र को किलों के निवासी नष्ट करने वाला बताया गया है। लेकिन पुरातात्विक साक्ष्य इस तथ्य की पुष्टि नहीं करते कि हड़प्पा कालीन सभ्यता का पतन इसलिए हुआ कि उस पर किसी बाहरी शक्ति ने कोई व्यापक आक्रमण किया था।

2) चित्रित धूसर मृद्भांड (पी.जी.डब्ल्यू) के प्रयोग करने वालों को आर्यों से जोड़ने के प्रयासों को पुरातात्विक साक्ष्य भी प्रमाणित नहीं करते। अगर मृद्भांड संस्कृतियाँ आर्यों के विषय में सूचित करती हैं तो उनके आक्रमण की अवधारणा को मस्तिष्क में रखते

हुए ये मृद्भांड बहावलपुर तथा पंजाब में भी मिलने चाहिए क्योंकि आर्यों के स्थानांतरण का रास्ता भी यही था। लेकिन, हमें यह एक विशेष भौगोलिक क्षेत्र जैसे हरियाणा, ऊपरी गंगा के थाल और पूर्वी राजस्थान में प्राप्त होते हैं।

3) दोनों संस्कृतियों में समय के अंतर के विषय में भी सोचा गया जिसका तात्पर्य यह लगाया गया कि उत्तर हड़प्पा और हड़प्पा काल के बाद की ताम्र पाषाण कालीन सभ्यता के बीच एक अंतराल था। भगवानपुरा, दधेरी, हरियाणा और मंडा में की गई हाल की खुदाइयों से पाया गया कि उत्तर हड़प्पा और चित्रित धूसर मृदभांड (पी.जी. डब्ल्यू.) की संस्कृति के अवशेषों को बिना किसी रुकावट के एक साथ पाया गया है। इस प्रकार ''आक्रमण'' की अवधारणा को भी खुदाइयों के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता।

1750 बी.सी.ई. के बाद नगर एवं शहर, ऐसे औज़ार जैसे मोहरें, तोल-माप के साधन आदि जो व्यापार एवं नगरीकरण से संबंधित थे, लुप्त हो गये। प्रारम्भिक काल का ग्रामीण ढांचा द्वितीय तथा पहली सहस्राब्दी बी.सी.ई. में भी स्थिर बना रहा। पुरातात्विक खोजों के द्वारा खोजी गई उत्तर हड़प्पा काल के बाद की वस्तुओं जैसे मिट्टी के बर्तन, धातु के औज़ार तथा अन्य वस्तुएँ वास्तव में भारत की ताम्र पाषाण कालीन संस्कृति की क्षेत्रीय विभिन्नता दिखाती हैं।

इस प्रकार दूसरी और पहली सहस्राब्दी बी.सी.ई. के पुरातात्विक प्रमाणों ने वैदिक आर्यों के विषय में आजकल प्रचलित दृष्टिकोण को परिवर्तित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। प्रथमतः पुरातत्व में ऐसा कोई वास्तविक प्रमाण नहीं मिला है, जिससे यह सिद्ध हो कि 1500 बी.सी.ई. के आस-पास मध्य या पश्चिमी एशिया से भारतीय उपमहाद्वीप में **बड़े पैमाने पर** लोगों का स्थानान्तरण हुआ। दूसरा, इस बात का कोई पुरातात्विक प्रमाण नहीं मिला है कि आर्यों ने हड़प्पा की सभ्यता का विनाश करके एक नयी भारतीय सभ्यता की स्थापना की। वस्तुतः यद्यपि *ऋग्वेद* में बार-बार विभिन्न दलों के बीच संघर्ष और लड़ाइयों का वर्णन आया है, किंतु आर्यों और अनार्यों तथा उनकी संस्कृतियों के बीच कथित मुठभेड़ों का कोई भी विवरण पुरातत्व में नही मिलता। फिर भी चूँकि *ऋग्वेद* धार्मिक श्लोकों का प्राचीनतम उपलब्ध संग्रह है अतः इसका ऐतिहासिक दस्तावेज़ के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन श्लोकों (स्तोत्रों) से उस प्रारम्भिक समाज के विभिन्न पहलुओं के विषय में ऐसी जानकारियाँ मिलती हैं जो पुरातात्विक प्रमाणों से नहीं मिल सकती। उनसे हमें उस समय की अर्थव्यवस्था, सामाजिक संगठन, राजपरम्परा और राजनैतिक संगठन, धार्मिक और ब्रह्माण्डिकीय विश्वासों आदि के बारे में जानकारी मिलती है। इनमें से अधिकांश जानकारी परिवर्तिकालीन भारतीय समाज को समझने में सहायक सिद्ध होती है। अतः अब हम यह देखेंगे कि *ऋग्वेद* से प्रारम्भिक वैदिक समाज के बारे में क्या जानकारी मिलती है।

8.4 अर्थव्यवस्था

प्रारंभिक वैदिक समाज पशुपालन पर आधारित था, पशुओं को पालना ही मुख्य पेशा था। एक चरवाही समाज कृषि उत्पादों की तुलना में पशुधन पर अधिक निर्भर करता है। पशु चराने के काम आजीविका का साधन है और इसको वे लोग अपनाते हैं जो ऐसे क्षेत्रों में रहते हैं जहाँ पर बड़े स्तर पर खेती-बाड़ी का कार्य सम्भव नहीं जो पर्यावरण संबंधी और कुछ सीमा तक सांस्कृतिक विवशताओं के कारण है।

प्रारम्भिक वैदिक काल में पशुपालन के महत्त्व का *ऋग्वेद* सूक्तों में काफ़ी बड़े स्तर पर वर्णन हुआ है। *ऋग्वेद* में बहुत सी भाषागत अभिव्यक्तियाँ गाय (गौ) से जुड़ी हैं। गोधन सम्पन्नता

के प्रधान प्रतीक थे और एक सम्पन्न आदमी जो गोधन का स्वामी होता था ''*गोमत*'' कहलाता था। इस काल में संघर्ष एवं लड़ाईयों के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया जाता था, वे थे *गविष्टि, गवेष्ना, गवयत* आदि। पहले शब्द का अर्थ है गाय की खोज करना और ये शब्द यह स्पष्ट करते हैं कि गोधन पर अधिकार समुदायों के मध्य असंतोष का आधार होता था तथा कभी-कभी इसको लेकर कबीलों के बीच संघर्ष एवं युद्ध छिड़ जाते थे। *ऋग्वेद* में *पणिस* शब्द का प्रयोग हुआ है, जो वैदिक जनों के शत्रु थे तथा वे आर्यों के धन विशेषकर गायों को पर्वतों एवं जंगलों में छिपा लेते थे। इन पशुओं को छुड़ाने के लिए वैदिक देवता इंद्र की पूजा की जाती थी। यह संदर्भ यह भी बताता है कि पशुओं का अपहरण सामान्य बात थी। राजा या मुखिया को ''*गोपति*'' कहा जाता था, जो गायों की रक्षा करता था। *ऋग्वेद* में ''*गोधूली*'' शब्द का प्रयोग समय को मापने के लिए हुआ है, दूरी को *गवयुती* नाम दिया गया है, पुत्री को *दुहिता* कहा गया है क्योंकि वह दूध दूहन का काम करती थी।

ये सारे शब्द गौ से बने हुए हैं और इससे लगता है कि *ऋग्वेद* कालीन जीवन में महत्त्वपूर्ण कार्य गौ-पालन था। चारागाह, गौशाला, दुग्ध उत्पादन और पालतू जानवर के साहित्यिक संदर्भ श्लोकों एवं प्रार्थनाओं में पाये गये हैं।

ऋग्वेद में पशुपालन से संबंधित अनगिनत भाषागत साक्ष्यों की तुलना में कृषि गतिविधियों से जुड़े संदर्भ बहुत ही कम मिलते हैं। अधिकतर कृषि संदर्भ बाद के काल से संबंधित हैं। ''यव'' या जौ के अतिरिक्त अन्य किसी अनाज का वर्णन नहीं किया गया है। प्रारंभिक वैदिक काल के लोग लौह तकनीकी का प्रयोग नहीं करते थे। यद्यपि उनको तांबे की जानकारी थी, परन्तु ये औज़ार लोहे के औज़ार की तुलना में कम उपयोगी थे। पत्थर के औज़ारों (कुल्हाड़ी) का प्रयोग किया जाता था और इसका वृतांत *ऋग्वेद* में हुआ है। आग का प्रयोग जंगल जलाने के लिए किया जा रहा था और झूम खेती का प्रयोग प्रारम्भ हो गया था। इस क्षेत्र में वर्षा कम होती तथा *ऋग्वेद* में वर्णित नदियाँ सतलुज, सिंधु, घग्घर और रावी आदि के बहाव में जल्दी-जल्दी परिवर्तन होता रहता था। उच्च स्तर की सिंचाई प्रणाली के बिना, जिसका विकास इस काल में नहीं हुआ था, नदियो के किनारे की कछारी (जलोढ़) भूमि की सिंचाई स्थायी तौर पर नहीं की जा सकती थी। इस प्रकार ग्रंथों में वर्णित हंसिया, कुदाल और कुल्हाड़ी का प्रयोग शायद जंगलों को काटकर साफ करने या झूम खेती के लिए किया गया। पशुचारण एवं परिवर्तित खेती के साक्ष्यों से स्पष्ट है कि लोग खानाबदोश या अर्ध-खानाबदोश की स्थिति में पशु झुंडों को लेकर कुछ निश्चित समय के लिए अपने पशुओं को चराने के लिए घूमते थे। साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों से स्पष्ट है कि लोग कृषि पर आधारित स्थायी जीवन नहीं बिता रहे थे। आबादी के गतिशील चरित्र के बारे में, ''*विश*'' शब्द से भी समझा जा सकता है जिसका तात्पर्य बस्ती था। *पुनर* (विश), *उपा* (विश) और *प्रा* (विश) जैसे प्रत्ययों के लगातार प्रयोगों से बस्तियों के उपविभाजन का बोध होता है और जिनका तात्पर्य है पास बसना (एक बस्ती के), पुनः प्रवेश करना (एक बस्ती में) या वापस आना (एक बस्ती को)।

भेंट विनिमय एवं पुनर्वितरण की समाज में महत्त्वपूर्ण आर्थिक भूमिका थी। कबीलाई-संघर्ष के कारण पराजित या अधीन समूहों द्वारा विजित सरदारों को बलि के रूप में नज़राना या अदायगी देनी पड़ती थी। विजयी कबीले के अन्य सदस्यों को युद्ध में बलपूर्वक प्राप्त किये गये एवं लूट-पाट के सामान का *भाग* या हिस्सा मिलता था। उत्सव के अवसरों पर कबीले का मुखिया अपने कबीले के सदस्यों को भोज कराता था तथा उनको उपहार देता था। इसका आयोजन सम्मान प्राप्त करने के लिए किया जाता था।

इस काल में व्यापार एवं व्यवसाय की हालत कमज़ोर थी। भू-स्वामित्व के आधार पर व्यक्तिगत संपत्ति का कोई सिद्धांत नहीं था।

बोध प्रश्न 1

1) प्रारंभिक वैदिक लोगों के इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए मुख्य स्रोतों की चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

2) ऋग्वैदिक लोगों की अर्थव्यवस्था की मुख्य विशेषताएं क्या थीं?

.....

.....

.....

.....

.....

8.5 समाज

प्रारम्भिक वैदिक समाज कबीलाई समाज था तथा वह जातीय एवं पारिवारिक संबंधों पर आधारित था। समाज जाति के आधार पर विभाजित नहीं था और विभिन्न व्यावसायिक गुट अर्थात् मुखिया, पुरोहित, कारीगर आदि एक ही जन समुदाय के हिस्से थे। कबीले के लिए *'जन'* शब्द का इस्तेमाल किया जाता था और *ऋग्वेद* में विभिन्न कबीलों का उल्लेख है। कबीलों में पारस्परिक संघर्ष सामान्य थे, जैसे *''दशराज युद्ध''* का वर्णन *ऋग्वेद* में हुआ है और इसी वर्णन से हमें कुछ कबीलों के नाम प्राप्त होते हैं जैसे भरत, पुरु, यदु, द्रहयु, अनू और तुरवासू। ये कबीलों के युद्ध जैसे कि पहले भी कहा गया है पशुओं के अपरहय एवं पशुओं की चोरी को लेकर होते रहते थे। कबीले का मुखिया *''राजा''* या *''गोपति''* होता था। वह युद्ध में नेता तथा कबीले का रक्षक था। उसका पद अन्य व्यावसायिक समूहों की भांति ही पैतृक नहीं था बल्कि उसका जन के सदस्यों में से चुनाव होना था। (योद्धा को *'राजन्य'* कहा जाता था)। *विश* एक गाँव या ग्राम में बस जाते थे। *कुल* या परिवार समाज की प्राथमिक इकाई था और *''कुलप''* अर्थात् परिवार का सबसे बड़ा पुरुष परिवार का मुखिया था जो परिवार की रक्षा करता था।

कबीला (जन), कबीलाई इकाई (विश), गाँव (ग्राम), परिवार (कुल), परिवार का मुखिया (कुलप)।

समाज पितृसत्तात्मक था। पुत्र की प्राप्ति लोगों की सामान्य इच्छा थी। पुरुष को महत्त्व दिया जाता था और इसका पता उन श्लोकों से लगता है जिनको पुत्र प्राप्ति के लिए लगातार प्रार्थना में प्रयोग किया जाता था।

यद्यपि पूरा समाज पितृसत्तात्मक था, फिर भी समाज में महिलाओं का भी काफ़ी महत्त्व था। वे शिक्षित थीं और वे सभाओं में भी भाग लेती थीं। कुछ ऐसी महिलाओं के भी दृष्टांत मिले हैं जिन्होंने श्लोकों का संकलन किया। उनको अपना जीवन-साथी चुनने का अधिकार था और वे देर से विवाह कर सकती थीं। इन सबके बावजूद महिलाओं को पिताओं, भ्राताओं

और पतियों पर सदैव निर्भर रहना पड़ता था। शिक्षा का मौखिक रूप से आदान-प्रदान किया जाता था, परंतु शिक्षा की परम्परा इस काल में अधिक लोकप्रिय नहीं थी।

ऋग्वेद के रचनाकारों में स्वयं को अन्य मानव समुदायों, जिन्हें उन्होंने *दास* और *दस्यू* कहा, से पृथक् रखा। *दास* शब्द को ऋग्वैद में अलग संस्कृति के दूसरे व्यक्ति को निरूपित करने के लिए प्रयोग किया गया है। *दासों* को काला, मोटे होठों वाला, चपटी नाक वाला, लिंग पूजक और अशिष्ट भाषा वाला कहकर वर्णन किया गया है। *ऋग्वेद* में उन्हें अनुष्ठानों का पालन नहीं करने के लिए व एक प्रजनन पंथ का अनुसरण करने के लिए धिक्कारा गया है। वे सुरक्षित दीवारें बना कर रहते थे और प्रचुर पशुधन के स्वामी थे। एक अन्य वर्ग *पणिस्* के विषय में जानकारी मिलती है जो धन और पशुओं के स्वामी थे। कालांतर में *पाणि* शब्द व्यापारियों और धन संपत्ति से जुड़ गया। इन समुदायों में आपसी झगड़े और मैत्रियाँ होती रहती थी और उन्हें विभिन्न जातियों या भाषाई वर्गों के रूप में नहीं बांटा जा सकता। उदाहरणतः *ऋग्वेद* का सबसे प्रमुख नेता सुदास था जिसने ''10 राजाओं'' की लड़ाई में भरत कुल का नेतृत्व किया था। उसके नाम के अंत में प्रयुक्त *दास* शब्द से लगता है कि उसका *दासों* से कुछ संबंध था। एक ही क्षेत्र में कई समुदायों की उपस्थिति के कारण ही सम्भवतः *वर्ण* व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ।

विभिन्न व्यवसायिक समूहों जैसे कि कपड़ा बुनने वाले, लोहार, बढ़ई, चर्मकार, रथ बनाने वाले, पुजारी आदि का वर्णन हुआ है। सारथी का समाज में विशेष स्थान था। *ऋग्वेद* में भिखारियों, मजदूरी पर काम करने वालों या मजदूरी का कोई दृष्टांत नहीं मिलता। परन्तु समाज में आर्थिक असमानता थी और हमें ऐसे संदर्भ मिलते हैं जिनके अनुसार कुछ धनी लोग रथों, पालतू पशुओं (गायों-बैलों) आदि के स्वामी थे और इन वस्तुओं को भेंट या उपहार में देते थे।

8.6 राजनैतिक व्यवस्था

कबीलाई राज्य व्यवस्था पूर्णतः समानतावादी नहीं थी। *ऋग्वेद* में दोहरा सामाजिक विभाजन मिलता है, जिसको दो वंशीय समूहों के रूप में देखा गया है – प्रथम *''राजन्य''* या वे जो युद्ध करते थे तथा जिन्होंने उच्चवंशीय परम्परा प्राप्त की, और शेष कबीले के साधारण सदस्य या *विश* जिन्होंने छोटी वंशीय परम्परा प्राप्त की। यद्यपि सामाजिक क्रम में किसी गुट ने विशिष्ट स्थान नहीं पाया था, परंतु लगातार कबीलों के पारस्परिक संघर्षों एवं युद्धों ने सामाजिक विभाजन की रचना की। चारागाहों, पशुओं की बढ़ती आवश्यकता और लोगों तथा बस्तियों की सुरक्षा आदि के कारण आंतरिक एवं बाह्य कबीलाई संघर्षों में वृद्धि हुई। युद्ध में योद्धासमूह की सहायता के लिए ''कबीले'' विशाल स्तर पर यज्ञ या बलि का आयोजन करते थे। इन यज्ञों में पुजारी या पुरोहित जनसमुदाय तथा देवताओं के बीच मध्यस्थ का कार्य करते थे। वह देवताओं की स्तुति करता था जिससे कि देवताओं का आशीर्वाद कबीले के मुखिया को युद्धों में सफलता पाने के लिए मिल जाये। प्रारम्भ में, सारा जन समुदाय इन यज्ञों में समानता के आधार पर भागीदारी करता था। बड़े स्तर पर इन यज्ञों के समय धन, खाने आदि का वितरण किया जाता और जन समुदाय के प्रत्येक सदस्य को बराबर हिस्सा मिलता था। लेकिन संघर्षों एवं युद्धों में वृद्धि होने के कारण यज्ञ या बलि का महत्त्व बढ़ गया और पुरोहित ने समाज में एक विशेष दर्जा हासिल कर लिया। इस काल के अंतिम भाग में, वे राजाओं या मुखियाओं से प्राप्त होने वाले उपहारों का बड़ा हिस्सा पाने लगे, और इस प्रकार *जन* के अन्य सदस्यों की तुलना में उनको विशेष स्थान प्राप्त हुआ।

युद्ध आदि होने के कारण राजा के पद का भी विशेष महत्त्व हो गया और उच्च तथा छोटी वंशीय परम्पराओं के बीच विभाजन अधिक स्पष्ट होने लगा। ये राजनीतिक असमानताएँ किस समय दिखायी पड़ी इसको स्पष्ट रूप से बता पाना कठिन है परंतु हमें याद रखना चाहिए कि *ऋग्वेद* के 10वें सर्ग में ''पुरुष सूक्त'' का वर्णन है और उत्तर वैदिक काल के ग्रंथों में हमें उन उच्च राजन्य समूहों के वर्णन मिलते हैं, जो क्षत्रिय का स्तर ग्रहण कर रहे थे तथा जो स्वयं में एक अलग जाति थी। ये परिवर्तन 1000 बी.सी.ई. के बाद हुए। इसका तात्पर्य यह कदाचित नहीं है कि जिस काल का हम अध्ययन कर रहे हैं वह अपरिवर्तनीय था, वास्तव में यह परिवर्तन धीमी गति से हो रहा था लेकिन यह एक मुश्किल सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था की ओर बढ़ रहा था जिसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति ''उत्तर वैदिक काल'' में हुई।

ऋग्वेद में कबीलाई सभाओं के लिए *गण, विधाता, सभा* और *समिति* जैसे शब्दों का वर्णन है। यह निश्चित नहीं है कि इनकी कार्यप्रणाली वास्तव में इस काल में क्या थी। ''*सभा*'' कबीले के चुनिंदा सदस्यों की परिषद थी, इसलिए वह विशेष थी। ''समिति'' सम्पूर्ण कबीले की परिषद होती होगी। *विधाता* वह सभा थी, जिसमें अन्य वस्तुओं के अलावा छापे में प्राप्त की जाने वाली लूट का वितरण किया जाता था। इन सभाओं का कार्य सरकारी एवं प्रशासनिक दायित्वों को पूरा करना था और यही अपने जन समुदाय के किसी एक सदस्य को राजा निर्वाचित करने का भी कार्य करती थी। इस प्रकार वे योद्धाओं की शक्ति पर नियंत्रण रखते थे। जैसा हम पहले ही बता चुके हैं कि यद्यपि हम प्रारम्भिक वैदिक व्यवस्था में अच्छी प्रकार से परिभाषित राजनैतिक श्रेणीबद्धता नहीं पाते हैं फिर भी परिवर्तनों के इस काल में सामाजिक राजनैतिक श्रेणीबद्धता को जन्म दिया और जो ''उत्तर वैदिक काल'' में जातीय व्यवस्था के रूप में परिलक्षित हुई। आरंभिक वैदिक कालीन समाज कबीलाई मूल्यों एवं नियमों से शासित होता था जिसके कारण मोटे तौर पर वर्ग विभेदीकरण नहीं हुआ।

8.7 धर्म

वैदिक लोगों के धार्मिक विचार *ऋग्वेद* के श्लोकों में स्पष्ट दिखाई देते हैं। वे चतुर्दिक प्राकृतिक शक्तियों (जैसे वायु, जल, वर्षा, बादल, आग आदि) जिन पर वे नियंत्रण नहीं कर सकते थे और उन पर दैवी शक्ति का आरोपण करके, मानव के रूपों में, जिनमें अधिकतर पुर्ल्लिंग थे, उपासना करते थे। बहुत कम देवियों की अराधना होती थी। इस तरह से धर्म पितृसत्तात्मक समाज को दर्शाता है और वह प्रारम्भिक जीववाद था।

इंद्र शक्ति का देवता था और उसकी उपासना शत्रुओं का नाश करने के लिए होती थी। वह बादलों का देवता था और वर्षा करने वाला था तथा उससे समय-समय पर वर्षा के लिए कहा जाता था। उसको पराजित नहीं किया जा सकता था। बादल एवं वर्षा (प्राकृतिक नियति) शक्ति से संबंधित थे जिसको पुरुष के रूप में मानवीयकरण किया गया तथा जिसका प्रतिनिधित्व इंद्र देवता करता था। गण का मुखिया जो युद्ध में सबसे आगे रहता था उसका प्रतिनिधित्व भी इंद्र के चरित्र में मिलता है। अग्नि आग का देवता था और इंद्र के बाद उसका महत्त्व था। *ऋग्वेद* के कुछ सुन्दर श्लोक अग्नि को समर्पित हैं। उसे कई घरेलु रस्मों जैसे शादी की उपरिकेंद्र माना जाता था। पाँच तत्वों में से वह सबसे शुद्ध था। उसको पृथ्वी एवं स्वर्ग के बीच मध्यस्थ माना जाता था। अर्थात देवताओं और मनुष्यों के बीच। वह परिवार के चूल्हे का अधिकारी था, और उसकी उपस्थिति में ही विवाह सम्पन्न होते थे। अग्नि का पूजन चूल्हे को प्रतीकात्मक महत्त्व देता था जिसे गृहस्थ का सबसे आदरणीय केंद्र माना जाता था। आग गंदगी एवं जीवाणुओं को नष्ट करती है इसलिए अग्नि को पवित्र माना जाता था। प्रारम्भिक समाज में अग्नि के महत्त्व को यज्ञ या बलि से भी

संबंधित किया जा सकता है। जो आहुतियाँ अग्नि को समर्पित की जाती थीं उनसे ऐसा माना गया कि वे धुएँ के रूप में देवताओं तक पहुँचायी जाती थीं।

वरुण को जल का देवता माना जाता था और वह विश्व की प्राकृतिक व्यवस्था का रक्षक था। यम मृत्यु का देवता था और उसका प्रारम्भिक वैदिक धर्म में विशेष महत्त्व था। दूसरे अन्य बहुत से देवता थे जैसे सूर्य, सोम (जो एक पेय भी था), सावित्री, रूद्र आदि और अनेक प्रकार के दिव्य देहधारी देवता थे जैसे गंधर्व, अप्सरा, मारूत तथा जिनको सम्बोधित करते हुए *ऋग्वेद* में प्रार्थना एवं श्लोक लिखे गये हैं।

वैदिक धर्म बलि देय था। बलि या यज्ञों को निम्न कार्यों को सम्पन्न करने के लिए किया जाता था :

- देवताओं की उपासना करने,
- मनोरथ पूरा करने के लिए, युद्ध में विजय,
- पशुओं, पुत्रों आदि की प्राप्ति के लिए।

हमें कुछ ऐसे श्लोक मिले हैं जिनको बलि के औज़ारों में शक्ति संचयन के लिए समर्पित किया गया जैसे कि बलि वेदी, सोम के पोधे को पीसने वाले पत्थरों, ओखली, युद्ध के हथियारों, एवं नगाड़ों आदि। श्लोकों एवं प्रार्थनाओं को इन बलि यज्ञों के अवसरों पर गाया जाता था और सामान्यतः पुरोहित ही इन यज्ञों को सम्पन्न करते थे। प्रारम्भिक वैदिक काल में बलि यज्ञों का बहुत महत्त्व हो गया जिसके परिणामस्वरूप, पुरोहितों का महत्त्व भी बढ़ने लगा। बलिदान अनुष्ठानों के कारण गणित एवं पशु शरीर संरचना ज्ञान के विकास में भी वृद्धि हुई। बलिदान वाले क्षेत्र में बहुत सी वस्तुओं का उचित स्थिति में स्थापित करने के लिए प्रारम्भिक गणित की आवश्यकता गणना करने के लिए पड़ती थी। बलिदान बार-बार होने के कारण पशुओं के शरीर का ज्ञान भी बढ़ा। वैदिक लोगों का विश्वास था कि जगत् का उद्भव एक विशाल ब्रह्माण्डी यज्ञ से हुआ और यज्ञों के समुचित सम्पादन से ही उसका प्रतिपालन हो रहा है। धर्म मायावी-अनुष्ठान पर आधारित नहीं था बल्कि इसके द्वारा बलिदान व श्लोकों के माध्यम से देवताओं से सीधे सम्पर्क स्थापित करने पर बल दिया गया था। आत्मिक उत्थान करने के लिए देवताओं की उपासना नहीं की जाती थी और न ही निराकार दार्शनिक अवधारणा के लिए। अपितु इनकी उपासना भौतिक उपलब्धियों के हेतु की जाती थी।

बलि पर आधारित धर्म पशु-पालक (चरवाहों) लोगों का धर्म है। इस समाज में पशु की बलि सामान्य बात है। जब पशु बूढ़ा हो जाए, जब वह न दूध दे सकता है और न मांस, न प्रजनन के लिए ही उपयुक्त रह जाता है, अर्थात् जो पशु आर्थिक लाभ के नहीं होते उनको मारकर उनके मालिकों का बोझ हल्का कर दिया जाता है। इस तरह से पशुबलि बूढ़े जानवरों को नष्ट करने का एक तरीका है और इसका समाज में एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। लेकिन कृषि प्रधान समाज में, पुराने पशुओं का उपयोग खेती-बाड़ी में किया जाता है और वे हल आदि खींचने के काम आते हैं तथा इसीलिए खेती-बाड़ी वाले समुदाय जानवरों के नष्ट होने के काम को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। इस प्रकार वैदिक धर्म पितृकसत्तात्मक, पशुपालक समाज को उजागर करता है और यह दृष्टिकोण में भौतिकतावादी था।

बोध प्रश्न 2

1) प्रारम्भिक वैदिक समाज की पांच महत्वपूर्ण विशेषताओं पर चर्चा करें। पांच वाक्यों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) प्रारम्भिक वैदिक राजव्यवस्था में राजन की स्थिति क्या थी?

.....

.....

.....

.....

.....

3) प्रारम्भिक वैदिक लोगों के धर्म के स्वरूप पर चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

4) निम्नलिखित कथनों को पढ़िए और सही (✓) या गलत (×) का निशान लगाओ।

क) अवेस्ता सबसे पुराना ईरानी ग्रन्थ है। ( )

ख) पुरोहित या पुजारी का समाज में कोई विशेष स्थान नहीं था। ( )

ग) *''सभा''* और *''समिति''* को राजा के चुनाव में कोई अधिकार नहीं था। ( )

घ) प्रारम्भिक वैदिक समाज में, शक्ति का देवता, इंद्र सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था। ( )

ड़) धर्म मायावी अनुष्ठान के सिद्धांत पर आधारित था। ( )

8.8 सारांश

आपने इस इकाई में उन साहित्यिक व पुरातात्विक स्रोतों के बारे में जानकारी प्राप्त की जो उत्तर वैदिक समाज के पुनर्निर्माण में हमारी सहायता करते हैं। पुरातात्विक साक्ष्यों के प्रकाश में ''आर्यों'' के वृहत पैमाने पर स्थानांतरण की अवधारणा को स्वीकार करना कठिन है। प्रारम्भिक वैदिक अर्थव्यवस्था मुख्य रूप से पशुपालन की थी और गाय संपत्ति की सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतीक थी। प्रारंभिक वैदिक लोगों के जीवन में खेती का स्थान गौण था। प्रारंभिक वैदिक समाज कबीलाई और मुख्यतः समानतावादी था। कुटुम्ब और परिवार के संबंधों ने

समाज का आधार निर्मित किया था और परिवार समाज की आधारभूत इकाई था। व्यवसाय पर आधारित सामाजिक विभाजन प्रारम्भ हो चुका था परंतु उस समय जातिगत विभाजन नहीं था। प्रारंभिक राजनैतिक व्यवस्था में *जन* के मुखिया या राजा और पुजारी या पुरोहित के महत्त्वपूर्ण स्थान थे। अनेकों गण सभाओं में से *''सभा''* व *''समिति''* प्रशासन में विशेष योगदान करती थीं। यद्यपि प्रारंभिक वैदिक व्यवस्था में स्पष्ट रूप से परिभाषित कोई राजनैतिक पदानुक्रम नहीं था फिर भी कबीले की राजनैतिक व्यवस्था पूर्णतः समतावादी नहीं थी। प्रारम्भिक वैदिक लोगों ने प्राकृतिक शक्तियों जैसे वायु, जल, वर्षा आदि को मूलरूप दिया और उनकी देवता की तरह पूजा को। वे देवता की उपासना किसी अमूर्त दार्शनिक अवधारणा के कारण नहीं बल्कि भौतिक लाभों के लिए करते थे। वैदिक धर्म में बलिदान या यज्ञ का महत्त्व बढ़ रहा था। यह विशेष रूप से स्मरणीय है कि यह समाज स्थिर नहीं बल्कि गतिशील था। इन पाँच सौ वर्षों के दौरान (1500 बी.सी.ई से 1000 बी. सी.ई) समाज का लगातार विकास हो रहा था और आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में नये-नये तत्व सामाजिक संरचना को रूपांतरित कर रहे थे।

8.9 शब्दावली

पुरावशेष (artifact) : मानव द्वारा निर्मित वस्तुएँ जैसे पुरातात्विक रुचि का कोई मामूली औज़ार या हथियार।

कुटुम्ब : कबीलाई समुदायों में पाया जाने वाला बड़ा परिवार समूह।

नातेदारी : खून का संबंध।

जीववाद (Animism) : आत्मा के लिए प्राकृतिक वस्तुओं और क्रियाओं को श्रेय देना।

खानाबदोश : ऐसे कबीले का सदस्य जो एक स्थान से दूसरे स्थान तक भटकता हो तथा जिसका कोई स्थाई घर न हो।

पितृसत्तात्मक : पुरुष प्रधान परिवार या कबीला।

अर्ध-स्थायीत्व : ऐसे लोग जो स्थायी रूप से एक स्थान पर न बसे हों और दूसरी नयी बस्ती की खोज में घूमते हों।

परिवर्ती खेती : एक भूमि का कुछ समय के लिए खेती-बाड़ी हेतु प्रयोग करके इसको छोड़ देना तथा नयी भूमि का प्रयोग करना।

स्तर विन्यास : भूमि की वे परतें जिनको खुदाई करके निकाला गया हो। इन परतों का पता लगाने का आधार अलग-अलग मिट्टी के प्रकारों या खुदाई में पाए जाने वाले विभिन्न पुरावशेषों में हो सकता है।

8.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 8.2

2) देखें भाग 8.4

बोध प्रश्न 2

1) आपको अपने उत्तर में लिखना चाहिए कि यह एक कबीलाई समाज था, समाज पितृसत्तात्मक था, परिवार समाज की मूल इकाई थी, जाति विभाजन वहां पर नहीं था। देखिए भाग 8.5।

2) आपको अपने उत्तर में लिखना चाहिए कि राजा कबीले का मुखिया था, बार-बार होने वाले युद्धों ने उसको महत्त्वपूर्ण बनाया, वह कबीले का रक्षक था, उसका पद सदैव पैतृक नहीं होता था, आदि। देखिए भाग 8.6।

3) वैदिक लोग अनेक प्राकृतिक शक्तियों की उपासना देवता के रूप में करते थे, बलिदान पर बल देते थे परंतु मायावी-अनुष्ठान के सिद्धांत पर नहीं, धर्म भौतिक उपलब्धियों पर आधारित था आदि। देखिए भाग 8.7।

3) (क) ✓ (ख) × (ग) × (घ) ✓ (ड़) ×

8.11 संदर्भ ग्रंथ

बैशम, ऐ. एल. (1986). *द वंडर दैट वॉस इंडिया.* नई दिल्ली.

कोशाम्बी, डी. डी. (1987). *द कल्चर एंड सिविलाईजेशन ऑफ ऐशियंट इंडिया इन हिस्टोरिकल आऊटलाईन.* नई दिल्ली.

थापर, रोमिला (2002). *द पेन्गुईन हिस्ट्री ऑफ अर्ली इंडिया फ्रॉम द ओरिजिन्स टू ए.डी. 1300.* नई दिल्ली : पेन्गुईन बुक्स.

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 9 वैदिक काल-II*

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 स्रोत

9.2.1 साहित्यिक स्रोत

9.2.2 पुरातात्विक स्रोत

9.3 लौह तकनीकी तथा इसका प्रभाव

9.4 अर्थव्यवस्था की प्रकृत्ति

9.4.1 पशुपालक जीवन के महत्त्व में कमी

9.4.2 अनुष्ठानों के कार्यों में परिवर्तन

9.4.3 भूमि का बढ़ता महत्त्व

9.5 राजनीतिक व्यवस्था और समाज

9.5.1 राजनीतिक व्यवस्था

9.5.2 समाज

9.6 धर्म

9.7 सारांश

9.8 शब्दावली

9.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

9.10 संदर्भ ग्रंथ

9.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने पर आप यह जान पाएँगे कि :

- उत्तर वैदिक समाज के अध्ययन के लिए कौन-कौन से स्रोत उपलब्ध हैं;
- उत्तर वैदिक काल की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं धार्मिक व्यवस्था में किस प्रकार परिवर्तन हुए; और
- नव धातु या लोहे के प्रचलन से तकनीकी परिवर्तन के आर्थिक एवं सामाजिक आयाम क्या थे?

9.1 प्रस्तावना

आप जिस समय का अध्ययन करने जा रहे हैं वह 1000 बी.सी.ई. से 600 बी.सी.ई. के मध्य का समय है। इस युग में वैदिक कबीले ''सप्त सिन्धव'' क्षेत्र से गंगा की उपरी घाटी तथा उसके आस-पास के क्षेत्र में फैल गये थे।

*यह इकाई ई.एच.आई.-02, खंड-3 से ली गई है।

परिवर्तन के इस काल में आर्यों की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक व्यवस्था में कई परिवर्तन आये। इस इकाई में हम इन परिवर्तनों के महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं की चर्चा करेंगे।

9.2 स्रोत

इस युग का अध्ययन करने के लिए हमारे पास साहित्यिक तथा पुरातात्विक दोनों ही प्रकार के स्रोत उपलब्ध हैं। आइये इन पर नीचे चर्चा करें :

9.2.1 साहित्यिक स्रोत

ऋग्वेद संहिता में बाद में जोड़े गये पहला, 8वां, 9वां एवं 10वें मंडल तथा *साम, यजुर* एवं *अथर्ववेद* संहिता इस काल के मुख्य साहित्यिक स्रोत हैं। *सामवेद* संहिता प्रार्थना तथा श्लोकों की पुस्तक है जो *ऋग्वेद* पर आधारित है। इनको उपासना एवं धार्मिक अनुष्ठानों के अवसरों पर स्पष्ट तथा लयबद्ध गाने के लिए संकलित किया गया। *यजुर्वेद* यज्ञ संबंधी अनुष्ठानों को स्पष्ट करता है और इसमें स्तुति गीतों का भी संग्रह है। इस संहिता में संकलित अनुष्ठानिक एवं स्तुति गीत उस युग की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति पर भी प्रकाश डालते हैं। *अथर्ववेद* उस काल की लोक परम्पराओं का संकलन है तथा वह लोकप्रिय धर्म का प्रतिनिधित्व करता है। सामान्य जनता की सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों को जानने का यह एक अच्छा उत्तर वैदिक कालीन स्रोत है।

इन संहिताओं के बाद कुछ अन्य ग्रंथ सामने आते हैं। इन ग्रंथों को हम *ब्राह्मण* ग्रंथ कहते हैं। *ब्राह्मण* ग्रंथ वैदिक संहिताओं पर टीका टिप्पणियाँ हैं। यह अनुष्ठानों के सामाजिक एवं धार्मिक पक्षों को भी उजागर करते हैं और उनसे उत्तर वैदिक समाज की भी जानकारी मिलती है। संस्कृत में लिखे गये *रामायण* तथा *महाभारत* दोनों महाकाव्यों से प्रारम्भिक भारतीय समाज के बारे में जानकारी मिलती है। तब भी भारतीय इतिहास के किसी भी काल को महाकाव्यों का काल कहना बहुत उपयुक्त नहीं होगा। इतिहासकारों का मत है कि इन महाकाव्यों में जो जानकारी मिलती है वह अधिकांशतया उत्तर वैदिक काल से संबंधित है। इस काल का प्रमुख केंद्र बिन्दु ऊपरी गंगा और मध्य गंगा घाटियाँ हैं। थोड़ा बहुत अन्य क्षेत्रों का भी विवरण है। महाकाव्यों के अनुसार भी अधिकांश महत्त्वपूर्ण घटनायें इसी क्षेत्र में घटी। हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इन महाकाव्यों में जिन कहानियों का वर्णन है उनको ऐतिहासिक घटनायें मनाने का हमारे पास कोई सबूत नहीं है। साथ ही यह जानना भी ज़रूरी है कि इन महाकाव्यों को अपने वर्तमान रूप में पहुँचने में कई सौ साल लग गये इसलिए इन महाकाव्यों में विभिन्न प्रकार के समाजों के दर्शन होते हैं।

9.2.2 पुरातात्विक स्रोत

साहित्यिक स्रोत स्थान-स्थान पर पश्चिमी उत्तर प्रदेश, हरियाणा और राजस्थान के क्षेत्रों की चर्चा करते हैं। उत्तर वैदिक काल का समय लगभग 1000 बी.सी.ई. से 600 बी.सी.ई. तक का है। समकालीन ग्रंथों में बहुत से समुदायों तथा सांस्कृतिक समूहों के बारे में जानकारी मिलती है। परन्तु विशेष प्रकार के मिट्टी के बर्तन किसी विशेष प्रजाति अथवा समूह से सम्बद्ध नहीं किये जा सकते। इसी क्षेत्र में लगभग इसी काल में कुछ खेतिहर समूह भी फले-फूले। ये खतिहर समूह एक विशेष प्रकार के मिट्टी के बर्तन प्रयोग करते थे जिन्हें चित्रित धूसर मृद्भांड (पी.जी.डब्ल्यू.) कहा जाता है। यह बर्तन और अन्य पुरातात्विक अवशेष उत्तर वैदिक काल की भौतिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हैं।

अब तक ऊपरी गंगाघाटी में 700 से अधिक चित्रित धूसर मृद्भांड के स्थलों की खुदाई की गई है। ये बाहवलपुर के घग्घर नदी के सूखे क्षेत्रों, सिन्धु व गंगा के तराई वाले क्षेत्रों तथा गंगा-यमुना दोआब में फैले हुए हैं। इन स्थलों की पूर्वी सीमा गंगा के उत्तरी पश्चिमी मैदान तक सीमित है जहाँ श्रावस्ती नामक स्थल इसका सूचक है तथा सरस्वती नदी (जो अब राजस्थान के मरूस्थल में विलीन हो चुकी है) तक फैली है। अतरंजीखेड़ा, अहिच्छत्र, नोह, हस्तिनापुर, कुरुक्षेत्र, भगवानपुरा तथा जखेड़ा चित्रित धूसर मृद्भांड संस्कृति के मुख्य स्थल हैं।

2000 बी.सी.ई से 1400 बी.सी.ई की दक्षिणी राजस्थान की बानस संस्कृति का विस्तार संभवतः गंगा घाटी में 800 बी.सी.ई. तक हो चुका था। इस तरह काले-एवं-लाल मृद्भांडों का प्रयोग करने वाले लोगों को भी उत्तर वैदिक संस्कृति के साथ जोड़ा जा सकता है। वैदिक साहित्य के अनुसार आर्यों का प्रसार पूर्व दिशा की ओर हुआ परन्तु पुरातात्विक स्रोत ''वैदिक आर्यों'' के पूर्व दिशा में फैलने को सिद्ध नहीं करते। पुरातात्विक साक्ष्यों में, पूर्व दिशा में फैलने वाली किसी भी संस्कृति के साक्ष्य नहीं हैं। इस प्रकार साहित्यिक व पुरातात्विक ऐतिहासिक स्रोतों में एक बड़ी दूरी दिखाई पड़ती है। हालांकि साहित्यिक स्रोतों से इंगित उत्तर वैदिक समाज और पुरातात्विक साक्ष्यों से इंगित समाज दोनों में लोहे के प्रयोग के आरम्भ का पता चलता है। चित्रित धूसर मृद्भांड क्षेत्रों में लोहे की चीजें सामान्यतया प्रचलित थी। अतरंजीखेड़ा, नोह एवं जोधपुरा से प्राप्त वस्तुओं की कार्बन 14 की पद्धति से निकाली गई तिथियाँ बताती हैं कि इस धातु का गंगा के मैदानों में 1000 बी.सी.ई. से 800 बी.सी.ई. के बीच प्रचलन शुरू हो गया था। लोहे का उत्तर प्रदेश, हिमाचल, पंजाब तथा बाद में दक्षिण बिहार में दोहन किया जाने लगा। यह एक स्थानीय प्रक्रिया थी। *ऋग्वेद* में वर्णित *''आयस''* शब्द लोहे के अर्थ से हो सकता है, परन्तु पुरातात्विक खोजों के आधार पर लोहे का प्रयोग उत्तर वैदिक काल में मिलता है। साहित्यिक स्रोत इसकी पुष्टि करते हैं। *यजुर्वेद* में ''आयस'' को ''श्याम आयस'' लिखा गया है तथा **ब्राह्मण** ग्रंथों में लोहे को ''कृष्ण आयस'' के नाम से पुकारा गया है। दोनों का अर्थ स्याह धातु से सम्बन्धित है।

किन्तु हाल ही के उत्खनन से पता लगता है कि दक्षिण भारत के महापाषाणी लोग लोहे के प्रयोग से अच्छी तरह से परिचित थे। इसलिए अब हम प्रवासी आर्यों को भारत में लोहे का प्रयोग प्रारम्भ करने का श्रेय नहीं दे सकते।

9.3 लौह तकनीकी तथा इसका प्रभाव

यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि क्या लोहे की जानकारी ने इस समय की धातु तकनीकी में कोई विकास किया? इसी प्रकार आप यह भी जानना चाहेंगे कि नई तकनीकी के प्रचलन से समाज की भौतिक परिस्थितियों में किस प्रकार के परिवर्तन हुए?

उत्तर वैदिक काल के ऐतिहासिक साक्ष्यों से यह धारणा बनती है कि घुमक्कड़ पशुपालक समाज एक स्थायी समाज में परिवर्तित हो रहा था। यह पहले भी बताया जा चुका है कि स्थायी रूप से खेती करने के लिए वनों एवं गंगा के दोआब को साफ करने के लिए लोहे की कुल्हाड़ी का प्रयोग किया गया। ऐसा समझा जाता है कि लोहे के नोक वाले हल एवं कुदाल ने कृषि यंत्रों की क्षमता को बढ़ाया जिससे कृषि के कार्यों का फैलाव हुआ। इसलिए विद्वानों का मत है कि लोहे के प्रयोग ने कृषि अर्थव्यवस्था को और विकसित करने में विशेष योगदान दिया। फिर भी, इस तथ्य से हम भली प्रकार से परिचित हैं कि उत्तर वैदिक काल कृषि तथा लोहे के प्रयोग में पूर्णतः विकसित नहीं था। बिहार से लोहे के खनन का कार्य बड़े स्तर पर नहीं किया जाता था तथा लोहा पिघलने की विधि भी अति विकसित नहीं थी।

खुदाई से जो चीजें उपलब्ध हुई हैं उनमें मुख्य रूप से नुकीले लोहे के तीर, नुकीले भाले आदि हथियार हैं, इनमें अधिक चीजें अहिच्छत्र की खुदाई से प्राप्त हुई हैं। उत्खनन से हंसिया, कुदाल व कुल्हाड़ी बहुत कम संख्या में प्राप्त हुई हैं। जखेड़ा से हल का एक फाल प्राप्त हुआ है जो शायद इस युग के अंत का है। इस प्रकार उत्खनन से ऐसा लगता है कि लोहे का प्रयोग केवल हथियार बनाने तक ही सीमित था। लोहे के प्रयोग ने पहली सहस्राब्दी बी.सी.ई. के उत्तरार्ध तक कृषि तकनीकी को तब तक प्रभावित नहीं किया जब तक गंगा घाटी की दलदली भूमियों तथा अन्य वनों को खेती के लिए साफ नहीं कर लिया गया।

उत्तर वैदिक काल में गंगा दोआब के ऊपरी जंगलों को जलाकर साफ किया गया। महाभारत में वर्णित है कि खांडव नाम के जंगल को जलाकर इन्द्रप्रस्थ नगर को बसाया गया था। लोहे के नुकीले हथियारों तथा घोड़े वाले रथों ने सैनिक कार्यों में मुख्य भूमिका अदा की एवं इस युग में सैनिक कार्यों में इनका खूब प्रयोग होने लगा था जिसकी चर्चा *महाभारत* में विस्तृत रूप से हुई है। लेकिन जीविकोपार्जन के कार्यों में लोहे का विशेष प्रयोग शुरू नहीं हुआ था।

9.4 अर्थव्यवस्था की प्रकृति

गंगा यमुना दोआब एवं मध्य गंगा घाटी में उर्वरक भूमि के विशाल मैदानों की उपलब्धता से उत्तर वैदिक काल में कृषि का विकास सम्भव हुआ तथा इस क्षेत्र में प्रथम सहस्राब्दी बी.सी.ई. में, धीरे-धीरे स्थायित्व कायम हो सका। हालाँकि पशुपालन का महत्व बना रहा।

इसी के साथ-साथ कृषि पर आधारित स्थायी जीवन प्रणाली का भी प्रारम्भ हो चुका था। दोनों तरह के साहित्यिक व पुरातात्विक स्रोत यह बताते हैं कि लोग खाने में चावल का प्रयोग करने लगे थे। चित्रित धूसर मृदभांड तथा बानस संस्कृति के खुदाई किये गये स्थलों से जले हुये चावल के दाने मिले हैं। वैदिक साहित्य में चावल के लिए *व्रीही, तन्दुला* तथा *शलि* जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है। यह लगता है कि इस समय दोहरे फसल चक्र का प्रयोग होने लगा था तथा जौं व चावल की खेती की जाने लगी थी। इस काल में खेती की अच्छी पैदावार तथा आर्थिक सम्पन्नता के लिए *राजसूय* यज्ञ में दूध, घी व पशुओं के साथ-साथ अनाज भी चढ़ाया जाने लगा। *अथर्ववेद* में ऐसी 12 बलियों का वर्णन है जिससे कि भौतिक लाभ की प्राप्ति होती थी तथा इसी के साथ ब्राह्मणों को गाय, बछड़े, सांड, सोना, पके चावल, छप्पर वाले घर तथा अच्छी पैदावार देने वाले खेतों को उपहार के रूप में दिया जाने लगा। उपहार में दी जाने वाली ये वस्तुएँ इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि कृषि तथा कृषि पर आधारित स्थायी जीवन का महत्त्व बढ़ रहा था। उत्तर वैदिक काल के साहित्य में वर्णन है कि 8, 12 व 20 बैल तक हल को जोतते थे। यहाँ पर बैलों की संख्या का वर्णन प्रतीक के रूप में हुआ है। परन्तु इस सन्दर्भ से यह स्पष्ट है कि खेती करने के लिए हल बैल का प्रयोग खूब होने लगा था।

9.4.1 पशुपालक जीवन के महत्त्व में कमी

पशुपालन का कार्य अब जीवन यापन का मुख्य साधन नहीं था जैसा कि यह प्रारम्भिक वैदिक काल में था। इस काल में मिश्रित कृषि व्यवस्था का प्रचलन था जिसमें खेती तथा पशुपालन दोनों का संयुक्त रूप से प्रयोग था। कृषि श्रम प्रधान नहीं थी। जिन जगहों की खुदाई से चावल प्राप्त हुआ है वे स्थान दोआब के पूर्वी क्षेत्रों में स्थित हैं। रोपाई के द्वारा धान पैदा करने का श्रम-गहन तरीका अभी शुरू नहीं हुआ था।

मिश्रित कृषि व्यवस्था के कारण खेती पर आधारित स्थायी जीवन का उदय हुआ। धूसर मृद्भांड सांस्कृतिक अवशेष 2 से 3 मीटर की गहराई के हैं जिससे यह पता लगता है कि लोग एक ही स्थान पर लम्बे समय तक रहते थे। भगवानपुरा और जखेड़ा की खुदाइयों से स्पष्ट है कि टहनियों, दूब व लकड़ी से बनी गोल झोपड़ियों का स्थान मिट्टी के परकोटे से बने अधिक टिकाऊ घरों ने ले लिया था। इन टिकाऊ घरों के बनाने में प्रयोग की गई सामग्री से स्पष्ट है कि अब उत्तर वैदिक काल के लोग कृषि पर आधारित स्थायी जीवन शैली को अपना रहे थे।

9.4.2 अनुष्ठानों के कार्यों में परिवर्तन

प्रारम्भक वैदिक काल में पूर्ण समुदाय को लाभ पहुँचाने के लिए अनुष्ठान किये जाते थे। देवताओं की पूजा दूसरे समुदायों पर विजय पाने, पशु प्राप्त करने अथवा पुत्र लाभ के लिए की जाती थी। यह अनुष्ठान और पूजा ऐसे अवसर होते थे जब मुखिया या समुदाय के प्रमुख धन भी बांटते थे। उत्तर वैदिक काल में अनुष्ठानों का उद्देश्य बिलकुल बदल गया। अब अनुष्ठान बहुत जटिल हो गये जो कई सालों तक चलते रहते थे। इसलिए अब केवल धनी लोग यह अनुष्ठान कर सकते थे। सामूहिकता की भावना में कमी आ गई। बलि देने के पीछे प्रमुख उद्देश्य समुदाय पर नियंत्रण प्राप्त करना हो गया। अब पूरे समुदाय को उपहार नहीं दिये जाते थे। मुखिया केवल ब्राह्मणों को उपहार देता था जो उसके लिए हवन अथवा बलि आदि के अनुष्ठान करते थे। अनुष्ठान अत्यधिक जटिल हो गये, केवल अत्यन्त निपुण ब्राह्मण ही उन्हें कर सकते थे। क्योंकि ऐसा विश्वास था कि एक मामूली गलती भी अनुष्ठान करने वाले का विनाश कर देगी। ऐसा भी विश्वास था कि बलि देने से मुखिया या समुदाय के प्रमुख को महामानवीय शक्ति प्राप्त होगी और वह समुदाय में उच्च स्थान प्राप्त कर सकता था। इस कार्य के लिए मुखिया अपनी साधन सम्पत्ति का एक बड़ा भाग ब्राह्मण पुरोहित को देता था। इस प्रकार अनुष्ठान मुखिया के लिए भौतिक और आध्यात्मिक प्रभुत्ता स्थापित करने का साधन बन गये।

9.4.3 भूमि का बढ़ता महत्त्व

जमीन की जुताई पारिवारिक श्रम तथा घरेलू नौकरों और दासों की मदद से की जाती थी। इस युग में, पहले भूमि का स्वामित्व पूरे समुदाय या *विश* के पास होता था परन्तु जब भूमि पर परिवार का स्वामित्व हुआ, इससे परिवार का प्रमुख या *गृहपति* धनी हो गया। वैश्य (जो मूलतः *विश* से बना था) समाज में उत्पादक वर्ग था। क्षत्रिय तथा ब्राह्मण उत्पादन के कार्यों में सीधी हिस्सेदारी नहीं लेते थे और इनके जीवन यापन के लिए खाद्यानों व सम्पत्ति का उत्पादन वैश्य ही करते थे। वैश्य जो भूमिकर या अन्य खाद्य सामग्री क्षत्रियों को देते थे उसके बदले में क्षत्रिय उनकी भूमि की रक्षा करते थे। ब्राह्मणों को वैश्य जो दान दक्षिणा देते थे उसके बदले में ब्राह्मण उनके जीवन में नैतिक उत्थान के लिए कार्य करते थे। *विश*/ वैश्य इस घरेलू अर्थव्यवस्था के मुख्य आधार थे। जीवन निर्वाह करने वाले खाद्य पदार्थ क्षत्रिय व ब्राह्मणों के बीच क्रमशः भूमिकर और दान दक्षिणा में बंट जाते थे। भूमि को बेचने या क्रय करने की कोई प्रथा नहीं थी। पृथ्वी द्वारा विश्वकर्मा भौवन नाम के एक शासक की इस बात के लिए निंदा की गई कि उसने भूमि का अनुदान देने की कोशिश की। इस संदर्भ में यह स्पष्ट है कि भूमि पर सामुदायिक स्वामित्व का सिद्धांत माना जाता था तथा *विश* की भी भूमि में भागीदारी थी।

1) उत्तर वैदिक समाज पर लौह प्रौद्योगिकी का क्या प्रभाव पड़ा?

.....

.....

.....

.....

.....

2) उत्तर वैदिक काल में परिवार क्या था?

.....

.....

.....

.....

.....

9.5 राजनीतिक व्यवस्था और समाज

पशुपालन से मिश्रित कृषि की ओर संक्रमण का उत्तर वैदिक राजनीति तथा समाज के चरित्र पर व्यापक प्रभाव पड़ा। परिवर्तन की मुख्यधाराएँ थीं :

- प्रारम्भिक वैदिक समाज की कबीलाई संस्था का स्थान क्षेत्रीय पहचान ने ले लिया तथा इसके फलस्वरूप मुखिया की प्रकृति में भी परिवर्तन हुआ।
- सामाजिक ढाँचा जो प्रारम्भिक वैदिक काल में कबीलाई संबंधों पर आधारित और समानतावादी था अब काफ़ी जटिल हो गया। यह समाज असमानता पर आधारित था। एक कबीला कई समूहों में बंट गया। समाज में कुछ समूह उच्च समझे जाते थे और कुछ निम्न।

9.5.1 राजनीतिक व्यवस्था

ऋग्वैदिक काल में *जन* का प्रयोग जनता या कबीले के लिए किया जाता था। लेकिन अब *जनपद* की धारणा अस्तित्व में आई। *जनपद* का तात्पर्य उस स्थान से था जहाँ पर कबीला बस गया था। उत्तर वैदिक काल के साहित्य में ''*राष्ट्र*'' शब्द का प्रयोग होने लगा था। परन्तु इस शब्द को अभी तक उस अर्थ में परिभाषित नहीं किया गया था जिससे यह एक निश्चित क्षेत्र में राज्य का द्योतक हो। कौरव (कुरु) कबीले का उदय वैदिक काल के दो बड़े कबीलों भरत तथा पुरु के संयुक्त होने पर हुआ था। इनका अधिकार गंगा/यमुना दोआब के ऊपरी भू-भाग पर था। इसी प्रकार पांचाल कबीला उन लोगों को कहा गया जिनका अधिकतर प्रभाव दोआब के मध्य भू-भाग पर था और ''पांचाल देश'' के नाम से जाना जाता था। इन दोनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि अब कबीले की पहचान क्षेत्रीय पहचान में बदल गई थी। यह भी कहा जाता है कि कुरु तथा पांचाल कबीलों का एक-दूसरे से विलय हो जाने के कारण उनका अधिकार गंगा-यमुना दोआब के ऊपरी मध्य भू-भाग पर हो गया था। इस प्रकार ''*जन*'' तथा क्षेत्र के सम्बन्धों में परिवर्तन और क्षेत्र के नियंत्रण ने छठी शताब्दी बी.सी.ई. तक *महाजनपद* तथा *जनपद* के गठन में सहायता की।

कबीलों के मुखिया और योद्धा

जब कबीले किसी क्षेत्र विशेष से सम्बन्धित हो गये और उस क्षेत्र के रूप में जाने जाने लगे तो कबीलों के मुखिया के पद एवं कार्य शैली में भी परिवर्तन हुआ। राजन या मुखिया अब केवल पशुओं की लूट में सम्मिलित नहीं होता था बल्कि वह उस क्षेत्र का रक्षक बन गया था जिसमें उसके कबीले के लोग रहते थे। *राजन्य* जिसको ऋग्वैदिक काल से उच्च वंशीय परंपरा का पात्र समझा जाता था अब वह क्षत्रीय में बदल गया। ''क्षत्रिय'' शब्द का साहित्यिक अर्थ है राज्य या क्षेत्र पर अधिकार होना। क्षत्रिय वर्ग का मुख्य कार्य था अपने कबीले के लोगों तथा उस क्षेत्र की रक्षा करना जिसमें वे बस गये थे। *विश* या जनता को क्षत्रियों को एक कर देना होता था जिसके बदले में क्षत्रिय जनता की रक्षा करते थे और *विश* धीरे-धीरे क्षत्रिय वर्ग के अधीन बन गये। भूमिकर तथा *बलि* अब इच्छानुसार देने वाले उपहार नहीं थे बल्कि अब नियमित कर व नज़राना देने वाली प्रथाओं का उदय हुआ।

कबीलाई सभाएँ

क्षत्रिय तथा योद्धा वर्ग की स्थिति में परिवर्तन के कारण गण या कबिलाई सभाओं के चरित्र में भी परिवर्तन हुआ। *समिति* की अपेक्षा *सभायें* इस समय अधिक शक्तिशाली हो गईं।

सभा राजा को उसके कर्त्तव्य पालन में सहायता करती थी। राजा या मुखिया का पद जन्म पर आधारित नहीं था परन्तु राजा का चुनाव केवल क्षत्रिय वर्ग के मध्य से ही होता था।

राजा की वैधता

पैतृक उत्तराधिकार और ज्येष्ठाधिकार के स्पष्ट सिद्धांतों के अभाव में राजा के लिए राजतिलक के समय होने वाले अनुष्ठानों का महत्त्व और बढ़ गया था। इसी के माध्यम से वह अपने प्रभुत्व के लिए आम लोगों की सहमति प्राप्त करता था। इसलिए *राजसूय, अश्वमेध* तथा *वाजपेय* जैसे अनुष्ठानिक यज्ञों का आयोजन विशाल स्तर पर किया जाने लगा था। ऋग्वैदिक काल में *अश्वमेध* यज्ञ का आयोजन छोटे स्तर पर ही होता था। लेकिन इस काल में इसका आयोजन दूसरे स्थानों पर अधिकार करने तथा दूसरे स्थानों पर शासक की वैधता स्थापित करने के लिए किया जाता था। दूसरे यज्ञों द्वारा राजा के स्वस्थ होने की कामना की जाती थी और राजा की वैधता, उसकी संप्रभुता व शक्ति को स्थापित करने के लिए इन तीनों यज्ञों का आयोजन किया जाता था। उदाहरण के लिए *राजसूय* यज्ञ के बाद आयोजक राजा *सम्राट* घोषित किया जाता था। बाद के काल में भी जब नये राज्य या राजा बनते थे तब भी इनका महत्त्व बना रहा। राजाओं द्वारा इनका उपयोग अपनी सत्ता को धार्मिक वैधता प्रदान करने के लिए हुआ।

साधनों, आर्थिक उत्पादन एवं वितरण के द्वारा राजा क्षेत्रीय एकता को प्राप्त करता था जिससे कि उसका स्तर मात्र लुटेरे या केवल युद्धों के नेता से कुछ अधिक हो जाता था। तब भी, वह एक संप्रभुता सम्पन्न शासक नहीं था। उसका चुनाव होता था और उसे हराया भी जा सकता था, तथा वह अपने कबीले के प्रति उत्तरदायी था। वह दूसरे ऐसे राजाओं की नियुक्ति भी नहीं कर सकता था जो उसके कार्यों में उसकी सहायता करते। वे स्वयं में अधिकार सम्पन्न मुखिया थे। यह काफ़ी महत्त्वपूर्ण है कि इस समय में क्षत्रिय वंश का स्तर अधिक ऊँचा हो गया था, इसका कारण है कि क्षेत्रीय पहचान के सिद्धांत की स्थापना हो गयी थी। इस प्रकार क्षेत्र के भौतिक आधार ने राजा को शासन करने की शक्ति दी।

कबीले के आन्तरिक व बाह्य संघर्ष की प्रकृति में भी परिवर्तन हुए। अब लड़ाईयाँ पालतू पशुओं के छुटपुट झगड़े नहीं रह गई थी, बल्कि भूमि पर आधिपत्य स्थापित करना इन झगड़ों का मुख्य तत्व था। क्षेत्र को बढ़ाने की आवश्यकता का सम्बन्ध कबीले की बढ़ती हुई जनसंख्या से था। लोहे के हथियार और घोड़ों द्वारा चलने वाले हल्के रथों ने युद्धों के कौशल को बढ़ावा दिया। *महाभारत* में कबीले के आन्तरिक युद्ध को कुरू वंश के कौरव और पांडव के बीच दिखाया है।

पुरोहित

राजन्य के बढ़ते हुए महत्त्व ने ब्राह्मण के महत्त्व को भी बढ़ा दिया क्योंकि वे अनुष्ठानों द्वारा राजा के पद को वैधता प्रदान करते थे। ऐसे अवसर पर दान-दक्षिणा द्वारा धन सम्पत्ति का बांटा जाना मुख्य रूप से क्षत्रिय यजमान द्वारा ब्राह्मण पुरोहित को देना था। बड़े स्तर पर पवित्र अनुष्ठान करना यह दिखाता है कि राजा अपने को पद पर बहुत सुरक्षित नहीं पाता था और शासन करने की अपनी योग्यता ऐसे अनुष्ठानों द्वारा दिखाना चाहता है। बाद के काल में राज्य के पुरोहित का दर्जा देवताओं के समतुल्य हो गया, यह समझा जाता था कि देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ की आवश्यकता है। इसी प्रकार राज्य पुरोहित अथवा ब्राह्मण दान से प्रसन्न होता है। इस प्रकार धन सम्पत्ति का बंटवारा मुख्यतया शासक और पुरोहित दो उच्च वर्गों के बीच था और राजनैतिक शक्ति क्षत्रिय के अधिकार में आ रही थी।

9.5.2 समाज

हम *विश* या *जन* की घटती हुई स्थिति और क्षत्रिय और ब्राह्मणों की बढ़ती हुई हैसियत के बारे में पहले ही पढ़ चुके हैं। समाज की रचना अब असमानता पर आधारित थी। एक स्रोत के अनुसार चार *वर्णों* अर्थात् *ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य* और *शूद्र* की उत्पत्ति ब्राह्मण के रचयिता प्रजापति के शरीर से हुई। ''आदिकालीन मनुष्य का श्लोक'' नामक श्लोक *ऋग्वेद* के उत्तरार्द्ध में है। यह श्लोक पहली बार चार वर्णों की उत्पत्ति के बारे में बताता है।

''जब पुरुष को विभाजित किया गया उसे कितने भागों में बांटा गया? उसका मुख क्या था, उसके हाथ क्या थे, उसकी जंघा क्या थी और उसके पांव क्या कहे गये?

ब्राह्मण उसका मुख था,

क्षत्रिय उसके हाथ से बनाये गये,

उसकी जंघा से *वैश्य* बने,

उसके पांव से *शूद्र* उत्पन्न हुये।''

इन स्रोतों में प्रतीकात्मक रूप से यह दिखाया गया है कि *ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य* और *शूद्र* समाज के अंग हैं। हालांकि यह अंग समान स्तर के नहीं हैं। *ब्राह्मण* की तुलना सिर या मुख से की गई है जबकि *शूद्र* की तुलना पांव से। *ब्राह्मण* सर्वोच्च समझे गये क्योंकि ऐसा माना गया कि समाज का देवताओं से सम्पर्क केवल उनके द्वारा ही स्थापित कर सकता था जब कि *शूद्र* निम्न कार्य करता था और इस श्रेणी में वह दास भी रखे गये जो युद्ध में पकड़े जाते थे।

वर्ण की अवधारणा

वर्ण की अवधारणा की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :

क) जन्म के आधार पर सामाजिक स्तर

ख) *वर्णों* का श्रेणीबद्ध तरीके से गठन (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) जिसमें ब्राह्मण समाज में सबसे उच्च और शूद्र सबसे निम्न स्थान पर थे।

ग) अंतर्विववाह, विवाह एवं अनुष्ठानों की पवित्रता के नियम।

वर्ण व्यवस्था को आगे धर्म से या सार्वभौमिक नियम की अवधारणा से प्रतिबद्ध किया गया है और *वर्ण* धर्म की स्थापना सामाजिक नियम के रूप में इसलिए की गई जिससे कि समाज को व्यवस्थित ढंग से चलाया जा सके। लेकिन उत्तर वैदिक समाज में *वर्ण* धर्म व्यवस्था का पूर्णतः विकास नहीं हो पाया था।

इस समय में समाज का विभाजन व्यवसाय के आधार पर था और समाज में अभी काफ़ी लचीलापन था जिसमें किसी का व्यवसाय जन्म पर आधारित नहीं होता था।

वैदिक काल के बाद के काल में भी *वर्ण* धर्म प्रत्येक समूह के अनुष्ठानिक महत्त्व मात्र की ओर संकेत करता था। *वर्ण* व्यवस्था में गैर क्षत्रिय लोग भी क्षत्रिय हो सकते थे और शासक भी (उदाहरण के लिए नंद और मौर्य) और न ही ब्राह्मणों को राजनैतिक सर्वोच्चता स्थापित करने से वंचित किया गया (जैसे कि शुंगराजा)।

इस प्रकार *वर्ण* व्यवस्था के सिद्धांत को व्यवहारिक स्तर पर वैदिक काल के बाद भी कठोरता के साथ कभी भी लागू नहीं किया जा सका।

ऐसा समझा जाता है कि उत्तर वैदिक काल में भौगोलिक केंद्र परिवर्तन के साथ वैदिक लोगों का सामना बहुत से गैर-वैदिक कबीलों के साथ हुआ। इनके साथ लम्बे आदान-प्रदान के बाद एक मिला-जुला समाज अस्तित्व में आया। कम से कम *अथर्ववेद* में कई गैर वैदिक धार्मिक परम्पराओं का चित्रण है जिसे पुरोहितों द्वारा स्वीकार किया गया था। यहाँ पर विवाह के कठोर नियमों को लागू करने का उद्देश्य अंतर्विवाह के द्वारा कबीले की पवित्रता को बनाये रखना था। क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों का महत्त्व समाज में बढ़ जाने के कारण उनके लिए यह अनिवार्य हो गया कि अन्य लोगों की तुलना में वे स्पष्टतः अपनी सर्वोच्चता कायम रखें। उत्तर वैदिक काल में फिर भी वर्णों की अवधारणा अपनी प्रकृति में अल्पविकसित थी। उदाहरणतः अस्पृष्यता की अवधारणा अनुपस्थित थी।

गोत्र

इस समय में *गोत्र* (साहित्यिक अर्थ गौशाला) की संस्था का भी उदय हुआ। कबीलाई अंतर्विवाह (कबीले के अन्दर विवाह) के विरुद्ध लोग असगोत्रीय विवाह (गोत्र के बाहर विवाह) करते थे। गोत्र ने एक समान पूर्वज के वंशक्रम को महत्त्व दिया और इसी कारण एक ही गोत्र के लड़के लड़कियों का आपस में विवाह नहीं होता था।

परिवार

इस काल में पितृसत्तात्मक परिवार अच्छी प्रकार से स्थापित था तथा *गृहपति* को एक विशेष स्थान प्राप्त था। घरेलू अर्थव्यवस्था के विशिष्टता प्राप्त कर लेने से *गृहपति* की स्थिति महत्त्वपूर्ण हो गयी। भूमि पर स्वामित्व का अधिकार परम्परागत प्रयोग के आधार पर था तथा भूमि के सामुदायिक स्वामित्व को भी सुरक्षित रखा गया। *गृहपति* धनी थे और अनुष्ठान में उनका मुख्य कार्य *यजमान* (जो बलि करने की आज्ञा देता हो) का था। उन्होंने धन उपहारों के द्वारा प्राप्त नहीं किया था। परन्तु उन्होंने इसको अपने विशेष प्रयासों से उत्पादित किया। यज्ञों का सम्पन्न कराना उनका कार्य था जिससे कि उनको विशेष दर्जा मिलता और उनके धन में से कुछ भाग ब्राह्मणों को भी जाता था।

कुछ महिलाओं को दार्शनिक का दर्जा प्राप्त हुआ था तथा रानियाँ राजतिलक के अनुष्ठानों के अवसर पर पुरुषों के साथ उपस्थित रहती थी, फिर भी महिलाओं को पुरुषों का सहायक ही समझा जाता था और नीति निर्धारण में उनका कोई योगदान नहीं होता था।

जीवन के तीन चरण

तीन *आश्रम,* अर्थात् – जीवन को तीन भागों में विभाजित किया गया था। यह निम्न प्रकार थे। *ब्रह्मचर्य* (विद्यार्थी जीवन), *गृहस्थाश्रम* (घरेलु जीवन), *वानप्रस्थाश्रम* (घरेलु जीवन का परित्याग कर के वन में निवास करना), संभवतः चतुर्थ, *संन्यासी* (अनिवार्य रूप से सांसारिक जीवन को छोड़ देना) था जिसके विषय में हमें *उपनिषदों* के लिखने के समय तक कोई जानकारी नहीं मिलती। उत्तर वैदिक काल में संन्यासी या तपस्वी वह व्यक्ति थे जिन्होंने वैदिक काल के बाद में वैदिक सामाजिक व्यवस्था का सक्रिय या निष्क्रिय तरीके से विरोध किया।

9.6 धर्म

इस समय के ग्रंथ दो विभिन्न धार्मिक परम्पराओं की ओर इशारा करते हैं :

- वैदिक जिसका वर्णन *साम* और *यजुर्वेद* संहिताओं तथा *ब्राह्मण* ग्रंथों में हुआ है, और
- गैर वैदिक या शायद लोक परम्परा जिसको विस्तृत रूप से *अथर्ववेद* में संकलित किया गया।

वास्तव में, *अथर्ववेद* में वर्णित धार्मिक परम्परा से साफ पता लगता है कि यह विभिन्न संस्कृतियों और वैदिक धार्मिक व्यवस्था में प्रचलित मान्यताओं का मिला जुला रूप है। *यजुर्वेद* संहिता और *ब्राह्मण* ग्रंथों में इस काल के बलिदान विषयक धर्म का संकलन है। इस युग में बलियों का बड़ा महत्त्व हो गया था तथा उन्होंने सार्वजनिक व व्यक्तिगत स्तर पर आयोजित किया जाता था। सार्वजनिक बलि अर्थात् *राजसूय, वाजपेय* व *अश्वमेध* यज्ञों का आयोजन विशाल स्तर पर होने लगा जिसमें पूरा समुदाय भाग लेता है। इन आहुति (बलि) यज्ञों के कुछ अनुष्ठानों में उर्वरता पंथ के तत्व भी दिखाई देते हैं। उदाहरणार्थ, *अश्वमेध* यज्ञ में इस बात की आवश्यकता होती थी कि पटरानी बलि के घोड़े के साथ रहती है। यहाँ पर रानी पृथ्वी का प्रतीक मानी जाती थी और इस अनुष्ठान के विषय में ऐसा सोचा जाता था कि इससे राजा की सम्पन्नता बढ़ती थी। *राजसूय* एवं *वाजपेय* यज्ञों के समय अनेक कृषि अनुष्ठान किये जाते। पृथ्वी के नियमित रूप से तरुण व उर्वरक होने जैसे विषयों के लिए भी यज्ञों का आयोजन किया जाता था।

पुरोहितवाद

उत्तर वैदिक ग्रंथ अनुष्ठानों के सुसम्पादन को स्पष्ट करते हैं तथा जो जटिल थे उनको सम्पन्न करने के लिए ऐसे व्यवसायिक लोगों की आवश्यकता थी जो उनके आयोजनों की कला में निपुण हों। बलि यज्ञों को सम्पन्न करने के लिए विधि या नियमों को रचा गया। वैदिक बलि यज्ञों का यह तात्पर्य नहीं था कि खाद्य सामग्री को अग्नि को भेंट चढ़ाकर साधारण तरीके से उनको सम्पन्न किया जा सके। भेंट चढ़ाने एवं बलि आदि देने के तरीकों में संरक्षक या यजमान की आवश्यकता के अनुसार अन्तर किया जाता था। अब बलि यज्ञ आध्यात्मिक प्रतीक से भरपूर थे और प्रत्येक अनुष्ठान किसी अदृश्य शक्ति के द्वारा सम्पन्न किया जाने लगा। पुरोहितवाद की एक नयी पद्धति का उदय हुआ क्योंकि इन यज्ञों के सम्पादन में बहुत सी जटिलताएँ आ गई थीं फिर चाहे वह सार्वजनिक यज्ञ हो या

व्यक्तिगत, इस प्रकार यज्ञोपासना करने के लिए पुजारियों का एक वर्ग विशेषज्ञ हो गया। यहाँ तक कि एक ही यज्ञ के दौरान उसके विभिन्न चरण पूरे करने के लिए अलग-अलग पुरोहितों की आवश्यकता होती थी।

उत्तर वैदिक काल के देवता

प्रारम्भिक वैदिक काल के दो महत्त्वपूर्ण देवता इन्द्र तथा अग्नि का महत्त्व कम हो गया। प्रजापति या स्रष्टा अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया। यह इस तथ्य का भी प्रतीक है कि कृषक समाजों में सृष्टि-निर्माण मिथक का कितना महत्त्व है। रुद्र जो *ऋग्वेद* में एक छोटा देवता था, अब एक महत्त्वपूर्ण देवता हो गया तथा विष्णु को भी सृष्टि का रचयिता तथा रक्षक समझा जाने लगा। पूषण जो पहले पालतू पशुओं की रक्षा करता था अब शूद्रों का देवता हो गया। देवताओं की स्थिति में होने वाले परिवर्तन इस तथ्य के प्रतीक हैं कि घुमक्कड़ कबीलों के स्थायी रूप से बसने और स्थायी कृषक बस्तियों में परिवर्तित होने पर उनके चरित्र में भी किस प्रकार परिवर्तन हुआ। प्रारम्भिक वैदिक देवता जो प्राकृतिक विशेषताओं के प्रतीक थे इनके गुणों को धीरे-धीरे त्याग दिया गया और प्राकृतिक तत्वों को देवता के रूप में देखना जटिल हो गया। उत्तर वैदिक काल के श्लोकों में वर्णित होने वाले विशेष देवता में प्राकृतिक तत्व को ढूंढ़ पाना कोई सरल कार्य न था।

लोक परम्परा

अथर्ववेद लोक परम्पराओं से सम्बन्धित सूचनाओं का विशाल भंडार है। इनका सार तत्व वैदिक बलि विषयक धर्म से भिन्न है। और यह मायावी धर्म से सम्बन्धित है। इस *वेद* की विषयवस्तु मानव जीवन के प्रत्येक हिस्से का वर्णन करती है। इसके सूक्त निम्न बातों का वर्णन करते हैं :

- रोग का प्रतिकार
- स्वास्थ्य के लिए प्रार्थना
- घर तथा सन्तान की सम्पन्नता के लिए मन्त्र
- पालतू पशु और खेत
- सौहार्दता बनाने के लिए मन्त्र
- प्रेम और विवाह या विरोध तथा ईर्ष्या आदि से सम्बन्धित मंत्र।

इस प्रकार इसमें उस समय में व्याप्त अन्धविश्वास तथा विश्वासों का संकलन है। *अथर्व* शब्द एक मायावी सूत्र की ओर इशारा करता है और *अथर्व* पुरोहित इस धर्म को आधिकारिक रूप से संपन्न करते थे। वैदिक देवताओं की स्तुति की जाती थी लेकिन जिस कारण से उसकी स्तुति की जाती थी वे कारण बहुत छोटे तथा व्यक्तिगत होते थे। बहुत सारे देवता, राक्षस, तथा पिशाच (कुछ अपकारी और परोपकारी) सब की स्तुति की जाती थी। इसका उद्देश्य सौभाग्य प्राप्त करने एवं मित्रों का लाभ अथवा दुश्मनों का सर्वनाश करने के लिए होता था। बहुत से मंत्र और स्तुतियाँ परिवार से सम्बन्धित थी और आम आदमी के दैनिक जीवन के नजदीक थी। उदाहरण के लिए, इन्द्र को, घर को लूटने वालों, नागों तथा असुरों को मारने वाला कहा गया है। ऐसा विश्वास किया गया कि अश्विन कृषि रक्षा करते तथा चूहों को मारते। सावित्री को याद वहाँ किया जाता था जहाँ पर नया घर बन सके। पूषण की पूजा सौहार्द्र प्राप्त करने तथा बच्चों को सुरक्षित जन्म के लिए जाती थी जबकि सूर्य भूत-प्रेत को भगाता था।

इस युग के अंत में ब्राह्मणों के विरुद्ध एक कड़ी प्रतिक्रिया हुई। यज्ञों में जटिलता आने का परिणाम यह हुआ कि दर्शन में एक नये सिद्धांत का प्रतिपादन हुआ जिसका मूर्तरूप *उपनिषदों* में दिखायी दिया। इन्होंने अनुष्ठानिक कार्यक्रमों व बलि के रूप में किये जाने वाले निरर्थक खर्च का विरोध किया तथा आत्मिक ज्ञान पर बल दिया। इस प्रकार धर्म के भौतिक आधार का बहिष्कार कर दिया गया और धर्म को दर्शन विषय तक उठाया गया। *उपनिषदों* ने आत्मा के परिवर्तन विहीनता एवं अमरत्व पर ज़ोर दिया। इस प्रकार से वे राजनीतिक स्थिरता तथा एकता पर ज़ोर देते दिखाई पड़ते हैं क्योंकि यह वह समय है जबकि *जनपदों* एवं *महाजनपदों* अर्थात् गणतन्त्र व राजशाही का उदय हो रहा था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारम्भिक वैदिक तथा उत्तर वैदिक काल के बीच में धार्मिक मतों तथा कार्यक्रमों में एक महान परिवर्तन हो चुका था। यह परिवर्तन क्रमशः पशुपालन से कृषि की ओर बदलाव से संबंधित था। ये धार्मिक परिस्थितियाँ उस काल की उन बदलती हुई सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों का प्रतीक थी जो पूर्व वैदिक से उत्तर वैदिक काल में आये।

बोध प्रश्न 2

1) उत्तर वैदिक काल में देवताओं की स्थिति में परिवर्तन क्या इंगित करती है?

2) 'सही' या 'गलत' का चिन्ह लगाए।

   क) *अथर्ववेद* उत्तर वैदिक काल की लोक परंपरा को दर्शाता है। ( )

   ख) उत्तर वैदिक काल में लौह तकनीक का उपयोग ज्यादातर कृषि के लिये किया गया। ( )

   ग) उत्तर वैदिक काल में पशुपालन मुख्य निर्वाह गतिविधि थी। ( )

   घ) भूमि अधिक महत्वपूर्ण हो गई थी और उत्तर वैदिक काल में भूमि का कबिलाई स्वामित्व धीरे-धीरे पारिवारिक स्वामित्व में बदल गया। ( )

   ड.) उत्तर वैदिक काल के दौरान, सभा समिति से अधिक महत्वपूर्ण हो गयी थी। ( )

   च) उत्तर वैदिक काल में सगोत्र विवाह होते थे। ( )

   छ) उत्तर वैदिक काल के देवता समाज के चरित्र में घुमंतु से स्थायी रूप से बसे हुऐ समाज में परिवर्तन को दर्शाते हैं। ( )

9.7 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपने जाना कि उत्तर वैदिक समाज पशुपालन शैली से एक स्थायी कृषि समाज में परिवर्तित हो रहा था परन्तु लोहा कृषि में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा नहीं कर सका था। लोहे के औज़ारों ने आगे चलकर ही कृषि में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। इस प्रक्रिया में स्पष्ट राजनैतिक इकाइयों की स्थापना हुई, आचार संहिताओं को लिखा गया और एक विशेष सामाजिक विभाजन का उदय हुआ। वैदिक धर्म और इस काल की लोक परम्परा में, अपनी पहचान बनाये रखते हुए भी, मेल-मिलाप बढ़ रहा था। इस परिवर्तन की प्रक्रिया में प्रारम्भिक वैदिक काल के रूद्र जैसे छोटे देवता अधिक महत्त्वपूर्ण हो गये जबकि पहले के महत्त्वपूर्ण इन्द्र जैसे देवताओं का महत्त्व कम हो गया। इस युग के साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों को एक साथ मिलाकर पढ़ना चाहिए जिससे कि उस समय के समाज का पूर्ण चित्र सामने आ सके।

9.8 शब्दावली

दोहरी फसल : एक ही खेत में एक समय दो या दो से अधिक फसल पैदा करना।

अंर्त-विवाह : एक ही कबीले, जाति व गोत्र आदि के अन्दर विवाह।

असगोत्र विवाह : जाति, गोत्र आदि से बाहर विवाह।

उर्वरता पंथ : अनुष्ठान/धार्मिक कार्य जिसमें मानव जन्म या जन्म की प्रक्रिया पर ज़ोर दिया जाये।

भेंट अर्थव्यवस्था : ऐसी अर्थव्यवसथा जिसमें इसको तथा इसकी संस्थाओं को बनाये रखने में उपहार अथवा भेंट विशेष योगदान करते हों।

श्रम प्रधान : वह कार्य जिसमें तकनीकी के स्थान पर मानव श्रम अधिक योगदान करे।

स्थायी रूप से बसना : ठहराव या एक ही स्थान पर रहना।

स्तरीकरण या स्तर-विन्यास : तहों में विभाजन, सामाजिक विभाजन का तात्पर्य है कि समाज में धन, जाति आदि के आधार पर विभाजन होना।

जीवन यापन गतिविधि : आर्थिक रूप से जीवित रहने के लिए कार्य, इसमें मिश्रित खेती आती है।

9.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) आप अपने उत्तर में यह बतायें कि क्या लोहा युद्ध के लिए महत्त्वपूर्ण हो गया था या रोजमर्रा उपयोग के लिए और क्यों?

2) आपको अपने उत्तर में परिवार के महत्त्व, गृहपति के महत्त्व तथा महिला की परिवार में स्थिति के बारे में बताना चाहिए।

बोध प्रश्न 2

1) आप अपने उत्तर में बतायें कि क्या नये देवता एक नये समाज की ओर इशारा करते थे?

2) क) सही
   ख) गलत
   ग) गलत
   घ) सही
   ड.) सही
   च) गलत
   छ) सही

9.10 संदर्भ ग्रंथ

बैशम, ए.एल (1986). *द वंडर दैट वाज इंडिया.* नई दिल्ली।

कौशांबी, डी.डी. (1956). *एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री.* रिप्रिंटेड ऐडिशन, बॉम्बे : पोपुलर प्रकाशन।

कौशांबी, डी.डी. (1987). *द कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन ऑफ एंशिएंट इंडिया इन इट्स हिस्टोरिकल आऊटलाइन.* नई दिल्ली।

थापर, रोमिला (2002). *द पेन्गुईन हिस्ट्री ऑफ अर्ली इंडिया. फ्रॉम द ऑरिजिन्स टू ए.डी. 1300.* नई दिल्ली : पेन्गुईन बुक्स।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 10 लौह का आविर्भाव*

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 पूर्व-लौह युग की संस्कृतियाँ

10.3 लौह प्रौद्योगिकी की शुरुआत

10.4 महापाषाण संस्कृति

10.5 चित्रित धूसर मृदभांड संस्कृति

10.6 उत्तरी काली पॉलिश वाले मृदभांड

10.7 गंगा घाटी में शहरीकरण

10.8 सारांश

10.9 शब्दावली

10.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

10.11 संदर्भ ग्रन्थ

10.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप इस बारे में सीखेंगे :

- पूर्व-लौह युग की संस्कृतियाँ;
- भारतीय उपमहाद्वीप में लोहे का उद्भव;
- दक्षिण भारत का लौह युग और महापाषाण युग के साथ इसका संबंध;
- उत्तर भारत की दो सबसे महत्वपूर्ण मृदभांड की परंपराएँः चित्रित धूसर मृद्भांड व उत्तरी काल पॉलिश वाले मृद्भांड; तथा
- छठी शताब्दी बी.सी.ई. में द्वितीय शहरीकरण के उद्भव में लोहे की भूमिका।

10.1 प्रस्तावना

यह इकाई भारत में लौह उद्भव से संबंधित है। शिक्षार्थी पूर्व-लौह युग संस्कृतियों के विभिन्न पहलुओं के बारे में भी जानेंगे और देखेंगे कि इन संस्कृतियों ने लौह युग के उद्भव के लिए एक आधार कैसे प्रदान किया। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप भारत में लौह युग की विभिन्न मृदभांडों की परंपरा और लोहे की प्राचीनता के बारे में जान पाएंगे।

लोहे के उद्भव ने पल-पल परिवर्तन किए जिससे भारतीय उपमहाद्वीप में शहरी केंद्रों का उदय हुआ। यह इकाई सांस्कृतिक क्षेत्र पर लौह प्रौद्योगिकी के प्रभाव की व्याख्या भी करेगी।

* डॉ. सिद्धार्थ शंकर राय, बाबा साहब अंबेडकर विश्वविद्यालय, लखनऊ

10.2 पूर्व-लौह युग की संस्कृतियाँ

लौह चरण के अध्ययन की शुरुआत करने से पहले, विभिन्न पूर्व-लौह युग की संस्कृतियों पर एक नज़र डालना आवश्यक है। उनकी भौतिक संस्कृति को समझना और उनके बारे में विचार प्राप्त करना लौह युग के उद्‌भव के लिए आधार को समझने के लिए ज़रूरी है।

ताम्रपाषाण संस्कृतियाँ

ताम्रपाषाण संस्कृति मानव इतिहास का एक चरण है जब पत्थर के औजारों के साथ-साथ तांबे के औजारों का उपयोग किया जाता था। यह मूल रूप से एक ग्रामीण संस्कृति थी और भारतीय उपमहाद्वीप में फैली हुई थी। इन संस्कृतियों को मृदभांडों की परंपराओं के आधार पर प्रतिष्ठित किया जाता है और उनके प्रमुख स्थलों या उस क्षेत्र के नाम पर रखा जाता है जिससे वे संबंधित थे। इस अवधि के दौरान नवपाषाण काल के जीवन का सामान्य स्वरूप जारी रहा। बस्तियों की संख्या में वृद्धि हुई, और विभिन्न प्रकार के चाक निर्मित व वृहद प्रकार से गुंदी हुई मिट्टी के बर्तन बनाये गये। इस काल में मिट्टी के बर्तनों की सजावट के साक्ष्य भी मिलते हैं। कुछ प्रमुख गैर-हड़प्पा ताम्रपाषाण संस्कृतियां इस प्रकार हैं:

- बानस संस्कृति (राजस्थान), 2600 बी.सी.ई.-1900 बी.सी.ई.
- कायथा संस्कृति (मध्य प्रदेश), 2400 बी.सी.ई.-2000 बी.सी.ई.
- मालवा संस्कृति (पश्चिमी मध्य प्रदेश), 1700 बी.सी.ई.-1400 बी.सी.ई.
- जोरवे संस्कृति (महाराष्ट्र), 1400 बी.सी.ई.-700 बी.सी.ई.
- प्रभास संस्कृति (सौराष्ट्र तट), 1800 बी.सी.ई.-1200 बी.सी.ई.
- सावलदा संस्कृति (तापी घाटी)

हालांकि क्षेत्रीय विविधताएं थीं, ताम्रपाषाण संस्कृतियों ने अपने भौतिक लक्षणों में एक निश्चित एकरूपता प्रस्तुत की है। ताम्रपाषाण लोगों ने शिकार और खेती की, जानवरों को पालतु बनाया, बड़ी संख्या में सूक्ष्म पाषाण उपकरण के साथ-साथ कृषि उपकरण जैसे चक्की और मूसल का उपयोग किया, छप्पर की झोपड़ियाँ बनाई, कच्ची मिट्टी की ईंटों (राजस्थान में गिलुंद और मालवा में नागदा), का प्रयोग किया। उन्होंने स्पष्ट रूप से दफन करने की प्रणाली अपनाई और, उनके दफनाने वाले सामानों ने एक स्तरीकृत या एक श्रेणी वाले समाज की उपस्थिति का संकेत मिलता है।

ताम्रपाषाण लोग व्यापार और विनिमय नेटवर्क के माध्यम से क्षेत्रीय और पार-क्षेत्रीय संस्कृतियों से अच्छी तरह से जुड़े हुए थे। स्थल पदानुक्रम और बस्ती ढांचा, ताम्रपाषाण संस्कृति में एक प्रकार के मुखिया या सरदार के होने का संकेत देते हैं। ताम्रपाषाण संस्कृतियाँ हड़प्पा संस्कृति के विपरीत प्रकृति में गैर-शहरी थीं। वे अधिशेष उत्पादन, व्यापक व्यापार, शिल्प, गढ़ वाले कस्बों, लेखन और एक विस्तृत जल निकासी व्यवस्था पर आधारित नहीं थी।

ताम्रपाषाण संस्कृतियां महत्वपूर्ण हैं क्योंकि वे गैर-हड़प्पा भारत में शुरुआती कृषक समुदायों का प्रतिनिधित्व करती हैं। हालांकि ये गैर-शहरी संस्कृतियां थीं, लेकिन वे पूर्ववर्ती नवपाषाण संस्कृति के बनिस्पत अधिक परिष्कृत संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती थी। यह उनकी अच्छी तरह से बनाये गये मिट्टी के बर्तनों, विभिन्न परिस्थितिक स्थलों में अनेक फसलों की उपज, और बेहतरीन तांबे के उपकरणों से स्पष्ट है। उन्होंने छठी शताब्दी बी.सी.ई. में कृषि अधिशेष और शहरीकरण के विकास के लिए आधार बनाया जब लोहे के आगमन से

अर्थव्यवस्था और समाज में महत्वपूर्ण परिवर्तन शुरू हुए। ताम्रपाषाण स्थल 1000 बी.सी.ई. के आसपास परित्यक्त हो गये थे हालांकि कुछ स्थानों पर वे 700 बी.सी.ई. तक मौजूद रहे।

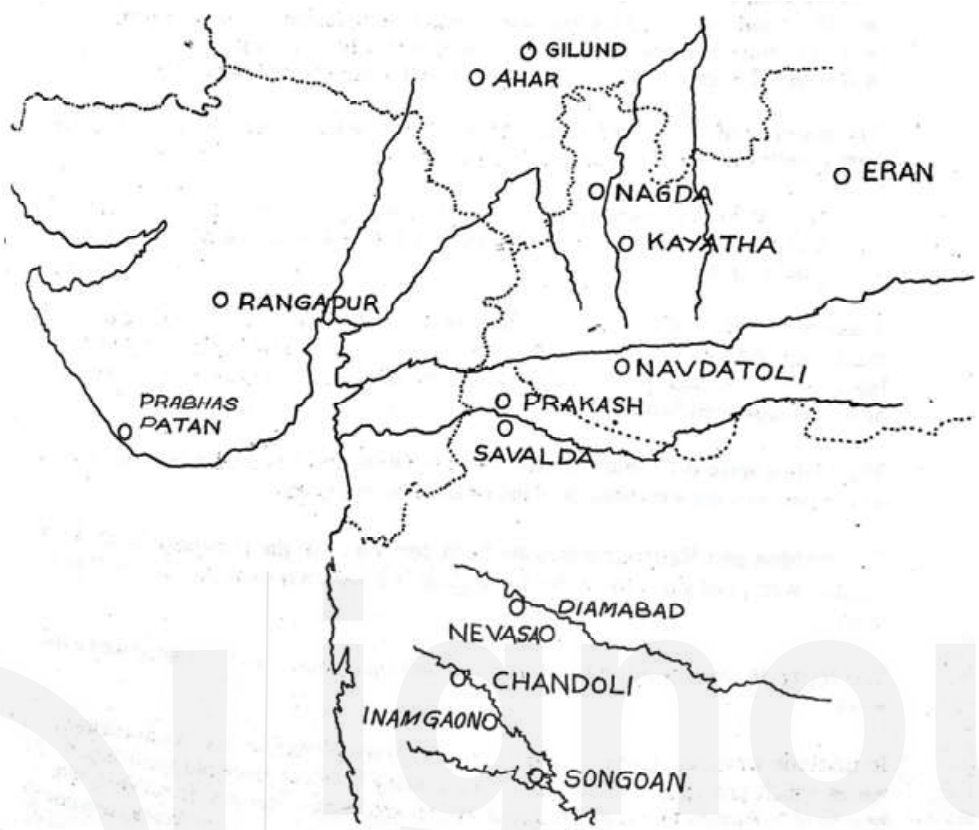

पश्चिम और मध्य भारत में ताम्रपाषाण संस्कृति के स्थल।
स्रोत : ई.एच.आई.-02, खंड-3.

OCP (गेरूऐ मृदभांड) संस्कृति और ताम्र भंडार की समस्या

ताम्र भंडार का तात्पर्य गंगा घाटी में विभिन्न तांबे की वस्तुओं के भंडार (copper Hoards) के रूप में आकस्मिक खोज से है (चित्र 10.1)। इन तांबे की कलाकृतियों को शुद्ध तांबे से

चित्र 10.1: रेवाड़ी, हरियाणा से प्राप्त ताम्र भंडार पुरावशेष
(संभवतः उपयोग की वस्तु नहीं है, किन्तु धार्मिक कार्य से संबंधित) श्रेयः प्युल, 1981, 93 नं 1075, पीआईडी, पीआई 100.1075। स्रोतः विकिमीडिया कॉमन्स https://en.wikipedia.org/wiki/Copper_Hoard_Culture#/media/File:Rewari_Cu_hoard_object,_1075.jpg

बनाया गया है और इसमें माबिन कुल्हाड़ियां, शृंगिका तलवार, बेधनी तलवार, बरछी, छल्ला, और मानवकल्प शामिल हैं (चित्र 10.2 और 10.3)। सैपई और सनौली में खुदाई से इन तांबे की वस्तुओं के पुरातात्विक संदर्भ का पता चलता है। सैपई से एक झुका हुआ भाला और बेधनी तलवार 1970 की पुरातात्विक खुदाई में पाया गया था। उसी सांस्कृतिक स्तर से, एक विशेष प्रकार के मिट्टी के बर्तनों को पाया गया था जिन्हें गेरूए रंग के मृद्भांड (OCP) कहा जाता है। वर्तमान में भारत के विभिन्न हिस्सों से 100 से अधिक तांबे के भंडार पाए गए हैं।

तांबे के प्रमुख भंडार स्थल राजपुर-परसु, बिठूर, बिसौली, सरथौली, मानपुर, सैपई आदि हैं। यह देखा गया है कि तांबे के संग्रह स्थल अक्षांश 78^0 पूर्व और 84^0 पूर्व के बीच स्थित है। तांबे के भंडार लगभग शुद्ध तांबे से बनाये जाते थे। इन वस्तुओं को ढलाई की तकनीक के साथ-साथ धातु की चादरों को हथौड़े से काटकर तैयार किया गया है। आगे की प्रक्रिया जैसे कोल्ड वर्क और तापानुशीतन इन वस्तुओं में अनुपस्थित लगती है। इन वस्तुओं का प्रयोग शिकार, मछली पकड़ने और जंगलों की सफाई में किया जा सकता था। एक अन्य दृष्टिकोण में कहा गया है कि ये वस्तुएं बहुत भारी हैं और लोगों की दिन-प्रतिदिन की गतिविधियों में इसका कोई प्रयोग नहीं है। यही कारण था कि वे एक स्तरीकृत संदर्भ में नहीं पाए गए हैं। एक बात निश्चित है कि, ताम्र भंडारों की तांबे की तकनीक बहुत ही परिष्कृत थी और एक सामान्य संस्कृति का काम नहीं हो सकती थी।

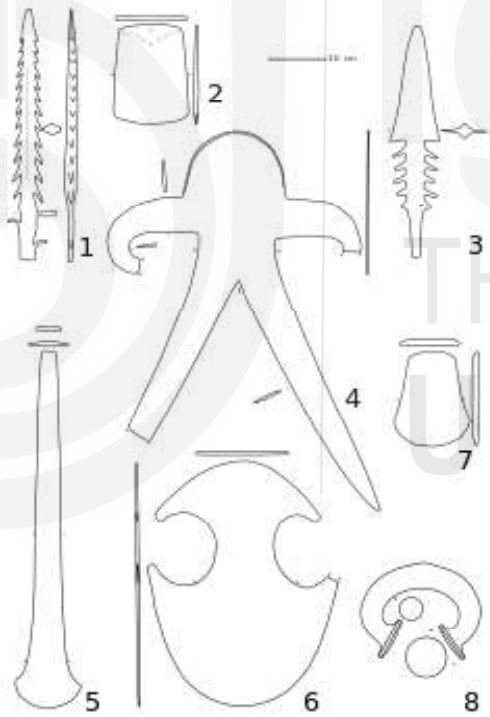

चित्र 10.2: चयनित भंडार पुरावशेष । दक्षिण हरियाणा से 1-2; यूपी से 3-4; 5 एमपी से; 6-8 बिहार-उत्तर उडीशा-बंगाल से। स्रोतः विकिपीडिया कॉमन्स https://en.wikipedia.org/wiki/Copper_Hoard_Culture#/media/File:Ind_cu_hoard_groups.svg

उनकी संरचना को लेकर भ्रम की स्थिति बनी हुयी है। कुछ विद्वान उन्हें हड़प्पा संस्कृति से जोड़ते हैं, जबकि अन्य उन्हें वैदिक लोगों से संबंधित मानते हैं। विद्वानों का कहना है कि यह संभव है कि हड़प्पा सभ्यता के पतन के बाद, परवर्ती हड़प्पा के लोग बाहर चले गए और पूर्व की ओर फैल गए और उन्होंने स्थानीय क्षेत्रों में तांबे की तकनीक शुरू की। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के अंबाखेड़ी और बड़गांव में गेरूए मृदभांड (OCP) के साथ परवर्ती हड़प्पा के पुरावशेव मिले हैं जिससे इस अनुमान की पुष्टि होती है। हालांकि, तस्वीर धुंधली है और इसमें और अधिक शोध की आवश्यकता है।

चित्र 10.3: मानवकल्प आकृति, गंगा यमुना घाटी। बिसौली से (नई दिल्ली से 212 कि.मी. दूर), बदायूं जिला, उ.प्र। श्रेयः इसमून । स्रोतः विकिपीडिया कॉमन्स https://en.wikipedia.org/wiki/Copper_Hoard_Culture#/media/File:Anthropomorphic_figures,_chalcolithic,Yamuna-Ganga.BKB.jpg

10.3 लौह प्रौद्योगिकी की शुरुआत

लौह धातु-विज्ञान तांबे की तुलना में अधिक जटिल है और इसमें अयस्क की आपूर्ति और तैयार उपकरणों के निर्माण की प्रक्रिया में कई चरण शामिल हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार लौह-धातु विज्ञान एक स्थान पर शुरू हुआ और फिर अन्य क्षेत्रों में फैल गया। इस एक-केन्द्र के सिद्धांत पर आज सवाल उठाए जा रहे हैं और उपलब्ध आंकड़ों से पता चलता है कि पुरातन विश्व (Old World) के विभिन्न क्षेत्रों में लौह तकनीक स्वतंत्र रूप से उभरी है।

लोहे की प्राचीनता

भारत में लोहे की प्राचीनता एक अत्यधिक बहस का मुद्दा है। यह अच्छी तरह से स्थापित है कि ऋग्वेदिक लोगों को लोहे का कोई ज्ञान नहीं था। प्रारंभिक बौद्ध साहित्य और कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* में प्रारंभिक ऐतिहासिक भारत में लौह धातु-कर्म का उल्लेख है।

अहार ताम्रपाषाण काल (2500-2000 बी.सी.ई.) के मध्य चरण ने कई लौह कलाकृतियों के स्पष्ट प्रमाण दिए हैं जो परवर्ती अहार चरण (2000-1700 बी.सी.ई.) में अधिक प्रमुख हो गए। चित्रित धूसर मृद्भांड संस्कृति (1000-600 बी.सी.ई.) में गंगा घाटी के कई स्थलों से लौह उपकरण मिले और यह पहली सहस्राब्दी बी.सी.ई. में दक्षिण भारतीय महापाषाण संस्कृति के संदर्भ में पाया जाता है।

उत्तर-मध्य भारत में राजा नल का टीला और मल्हार में किए गए उत्खनन इस क्षेत्र में लौह प्रौद्योगिकी की उत्पत्ति का पता लगाने के लिए महत्वपूर्ण हैं। राजा नल का टीला से उत्तरी काली पॉलिश वाले मृदभांड संस्कृति से पहले लौह के साक्ष्य मिले हैं (1400 बी.सी.ई. और 800 बी.सी.ई.)। इस स्थल से कई लोहे के औजार और लोहे के तलछट मिले हैं। लोहे के काम करने का सबसे महत्वपूर्ण साक्ष्य उत्तर प्रदेश के जिला चंदौली के मल्हार स्थल से आया है। यह स्थल एक हेमटिट समृद्ध चट्टानी क्षेत्र में स्थित है। चार सांस्कृतिक काल – इस स्थल से पूर्व-लौह, लौह, उत्तरी काली पॉलिश वाले मृदभांड संस्कृति और शुंग-कुषाण की पहचान की गई है। भट्टियों और लोह तलछट के साथ लोहे के उपकरण इसे एक महत्वपूर्ण लौह धातुकर्म केंद्र के रूप में स्थापित करते हैं।

यह प्रशंसनीय है कि लौह धातु- कर्म स्वतंत्र रूप से विकसित हुई और इसकी उत्पत्ति के एक से अधिक स्वतंत्र केंद्र थे । लोहे को या तो तांबे को गलाने के उप-उत्पाद के रूप में पाया गया था या इसे अलग से निकाला गया था और तांबे के गलाने के समानांतर विकसित किया गया था। लौह युग के साथ कई संस्कृतियां जुड़ी हुई हैं। काले-एवं-लाल मृदभांड संस्कृति जो अखिल भारतीय चरित्र की है; उत्तर भारत की चित्रित धूसर मृद्भांड संस्कृति और उत्तर काली पॉलिश वाली मृद्भांड संस्कृति; और दक्षिण भारत की महापाषाण संस्कृति इस संदर्भ में महत्वपूर्ण हैं।

काले-एवं-लाल मृदभांड संस्कृति

काले-एवं-लाल मृदभांड या BRW संस्कृति एक विशिष्ट मिट्टी के बर्तनों का प्रतिनिधित्व करती है, जिनका विपरीत जलावन तकनीक के कारण अंदर में काला रंग होता है जबकि बाहरी स्तर लाल रंग का होता हैं। BRW पूरे भारत में पाया गया है। यह गुजरात में हड़प्पा के संदर्भ में; उत्तरी भारत में पूर्व-चित्रित धूसर मृदभांड (प्री-पीजीडब्ल्यू) संस्कृति के रूप में और दक्षिण भारत के महापाषाण के संदर्भ में पाया गया। अतरंजीखेड़ा और नोह की खुदाई से पता चला है कि बीआरडब्ल्यू को गेरूऐ मृद्भांड और चित्रित धूसर मृद्भांड (पीजीडब्ल्यू) स्तर के बीच पाया गया है। यह कालानुक्रमिक अनुक्रम (OCP-BRW-PGW) अधिकांश स्थलों पर पाया गया है, लेकिन जोधपुरा और नोह में अधिक प्रमुखता से है। अहिच्छत्र, अलमगीरपुर और हस्तिनापुर में पाए गए बीआरडब्ल्यू और पीजीडब्ल्यू का सह-अस्तित्व उल्लेखनीय है। इस मिट्टी के बर्तनों की परंपरा का विस्तार पूर्व में पांडु-राजार-ढिबी, पश्चिम में देशलपुर, उत्तर में रोपड़ और दक्षिण में आदिचनल्लुर में चिह्नित किया जा सकता है।

यह एक विशिष्ट संस्कृति है, जो एक विशिष्ट स्तरित रूपरेखा (प्रोफ़ाइल) और संबद्ध सांस्कृतिक अवशेषों के कारण है। इस सांस्कृतिक चरण से लोहे के साक्ष्य नोह से प्राप्त किये गये हैं। अतरंजीखेड़ा से कुछ जली हुई ईंटों के साक्ष्य मिले हैं।

मृदभांड

इन मिट्टी के बर्तनों की एक महीन संरचना होती है और इन्हें तेज चाक पर बनाया जाता है। इसमें मुख्य रूप से मेज पर खाने के बर्तन शामिल हैं। इस मिट्टी के बर्तनों में कोई चित्रकारी नहीं है, लेकिन अहार में पाए गए कुछ बीआरडब्ल्यू में मिट्टी के बर्तनों के दोनों ओर सफेद चित्रकारी है। यह मृदभांड क्षेत्रीय विविधताओं को दर्शाता है। पश्चिम भारत में इसमें सफ़ेद चित्रकारी है और यह महीन, मध्यम से लेकर अपरिष्कृत संरचना दोनों में उपलब्ध हैं। टोंटी वाले कटोरे और साधार तश्तरी अहार में पाए जाने वाले विशिष्ट मिट्टी के बर्तन हैं। संदीप्ति परीक्षा (TL dating) के आधार पर इस संस्कृति को 1450-1200 बी.सी.ई. के बीच रखा गया है।

10.4 महापाषाण संस्कृति

'मेगालिथ' शब्द की उत्पत्ति ग्रीक शब्द 'मेगास '(महा) और 'लिथोस' (पत्थर) से हुई है। कब्र या दफन स्थलों को चिह्नित करने के लिए बड़े पत्थर इस्तेमाल किये जाते हैं। कर्नल मीडोज़ टेलर पहले व्यक्ति थे जिन्होंने 1852-62 में कर्नाटक के शोरापुर-दोआब में व्यापक खोज की और महापाषाण (मेगालिथ) पर लिखा। ब्रह्मगिरी में खुदाई के बाद, सर मोर्टिमर व्हीलर ने भारतीय पुरातत्व में मेगालिथ के महत्व को स्थापित किया।

विस्तार

महापाषाण (मेगालिथ) देश भर में फैले हुए हैं और मुख्य रूप से *दक्षिणी उत्तर* प्रदेश में विंध्य, महाराष्ट्र के विदिशा क्षेत्र और दक्षिण भारत के अधिकांश हिस्सों में स्थित हैं (मानचित्र 10.1)। इन क्षेत्रों में महापाषाण संस्कृति लोहे से जुड़ी हुयी हैं। महापाषाण संस्कृति के अवशेष उत्तर-पूर्व भारत, मध्य प्रदेश (बस्तर क्षेत्र), और बिहार के सिंहभुम क्षेत्र में भी पाए जाते हैं। हालांकि, यहां वे एक अलग संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं और लोहे से जुड़े नहीं हैं।

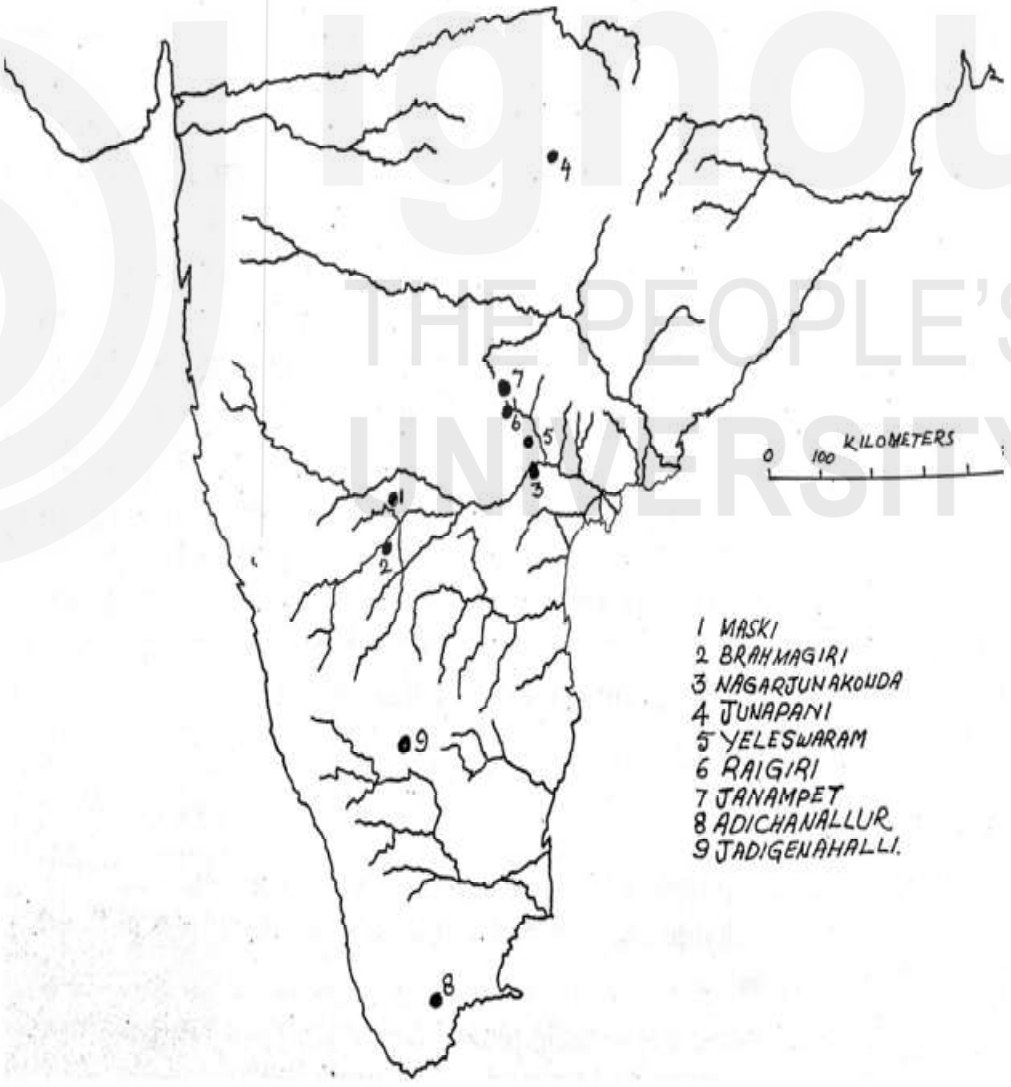

मानचित्र 10.1: दक्षिण भारत में महत्वपूर्ण लौह कालीन स्थल।
स्रोत : ई.एच.आई.-02, खंड-3

महापाषाण (मेगालिथ) ऐसी संरचनाएँ हैं, जो तराशे व बिना तराशे बड़े पत्थरों से बनी होती हैं, जिन्हें आमतौर पर धरती की सतह पर मृत लोगों की याद मे बनाया जाता है। रूपों और संरचनाओं में, वे सात प्रकार के होते हैं जैसे कि मेन्हीर, डोलमैनॉइड पत्थर ताबूत, टोपिकल, कुदाई-कल या टोप पत्थर, पत्थर के घेरे में गड्ढ़े वाले कब्र, बहु-टोप पत्थर और संरेखण।

क) **मेन्हीर** : एक खड़ा किया गया बड़ा पत्थर। इसे संरेखन के रूप में भी पाया जाता है। लंबाई 1.5 मीटर से 2.5 मीटर तक। केरल, दक्कन, और उत्तर प्रदेश के चित्रकूट मे पाया गया।

ख) **डोलमैन** : डोलमैन का अर्थ 'पत्थर का टेबल' है। ये महापाषाण एक पत्थर के टेबल का आकार लेते हैं। डोलमैंस बनाने के लिए चार पत्थर के स्लैब रखे जाते हैं और बॉक्स की तरह संरचना में व्यवस्थित होते हैं। कभी-कभी पत्थर के स्लैब को एक स्वस्तिक के आकार में रखा जाता है और एक सपाट छत्रक पत्थर से ढंक दिया जाता है। कुछ डोलमैंस को पोर्ट-होल के साथ बनाया जाता है। ये छेद इन डोलमैस में दबे मृतकों को सामान देने के लिए तैयार किए गए थे। विंध्य में पाए जाने वाले डोलमैन पत्थर ताबूत छोटे होते हैं और कई छोटे पत्थर के स्लैबों से बनाए जाते हैं। इन डोलमैंस का उपयोग दफनाने के रूप में किया जाता था जहां मिट्टी के बर्तन और लोहे की वस्तुएं मृतकों के साथ पाई जाती थीं। डोलमैंस अक्सर ब्रह्मगिरी (कर्नाटक) और चिंगलपेट (तमिलनाडु) में पाए जाते हैं और दाह संस्कार के उपरान्त के अनुष्ठानों से संबंधित हैं।

ग) **टोपि-कल** : इस महापाषाण की छतरी जैसी संरचना होती है। इन्हें स्थानीय भाषा में टोपि-कल्स कहा जाता है। इस प्रकार के महापाषाण में, चार पत्थर के स्लैब को एक कब्र के ऊपर खड़ा किया गया है और एक बड़े गोल पत्थर इसके ऊपर को इस तरह से रखा जाता है कि यह एक छतरी जैसा दिखता है। ये महापाषाण केरल के अरियान्नूर और चेरामननगढ़ से मिले हैं।

घ) **टोप पत्थर** : ये टोपि-कल्स के समान हैं। यहां, गुंबद के आकार के बड़े पत्थर के स्लैब जमीन की सतह पर रखे गए थे। यह सांप के फन जैसा दिखता है। दफन के ऊपर कभी-कभी पांच से बारह हुड पत्थर पाए जाते हैं। इन्हें वृत्ताकार रूप में व्यवस्थित किया जाता है और इन्हें अपवर्त्य हुड-स्टोन कहा जाता है। ये केरल में गड्ढे वाली कब्र को ढकने के लिए प्रयोग में लाये जाते थे।

घ) **पत्थर के घेरे में गड्ढ़े वाले कब्र** : ये पत्थर के घेरे में पाए जाते हैं। इस प्रकार के महापाषाण में अंतिम संस्कार के लिए लगभग 2 मीटर गहराई और 3.5 मीटर व्यास का गड्ढा खोदा जाता है। दाह संस्कार के बाद, परिधीय पत्थर के खंडों को एक गोलाकार रूप में रखा जाता है और एक एकल या कई मानव कब्र के लिए चिह्नक के रूप में उपयोग किया जाता है। इन कब्रों की खुदाई से पता चला है कि शव को मिट्टी और पत्थर की रोड़ी की पैकिंग के साथ दफन किया जाता है। ये कब्र दक्षिण भारत में चिंगलपुट, चित्रदुर्ग और गुलबर्गा जिलों और उत्तर भारत के काकोरिया में पाए जाते हैं।

ङ) **पत्थर की गुफाएँ**: ये मखरले पत्थर से बनी थीं। इन गुफाओं का निर्माण चट्टान में सीढ़ियों और गड्ढे खोदकर किया गया है। इन पत्थरों को काटने के लिए लोहे का उपयोग किया जाता था। इसके अलावा, एक गुफा बनाने के लिए चट्टानों को काट

दिया गया था। कुछ अतिरिक्त द्वार भी सामने की ओर प्रदान किए गए थे। एक दरवाजा बनाने के बाद, अंदर का कक्ष गुंबद के आकार में एक आयताकार चट्टान मे कटे स्तंभ के साथ बनाया गया था। इन गुफाओं में छत पर मध्य द्वार होता था जिसके जरिये मृतकों को सामान दिया जाता था।

च) **शवपेटिका (ताबूत) :** यह एक पक्की मिट्टी से बना ताबूत था जो बच्चों के दाह-संस्कार के लिए बनाया गया था। ये तीन प्रकारों में पाए जाते हैं – पैर वाले ताबूत, वृत्ताकार और लंबे घड़े वाली शवपेटिका। पैर वाले ताबूत पक्की मिट्टी (टेराकोटा) से बने बक्से हैं, जिनके सबसे नीचे जानवर जैसे पैर हैं। ताबूत को ताकत देने के लिए इन पक्की मिट्टी के बक्से को अच्छी तरह से तपा कर पका लिया गया है। ये ताबूत दक्षिण भारत के चिंगलपुट, ब्रह्मगिरी और मास्की क्षेत्रों में अक्सर पाए जाते हैं।

कालक्रम

दक्षिण भारत के महापाषाण संस्कृति से लौह युग की शुरुआत हुई। कुछ स्थानों पर यह नवपाषाण संस्कृति के साथ अतिव्याप्त पाया जाता है। दक्षिण भारतीय महापाषाणों की तिथि निश्चित नहीं है और इसका निर्धारण स्तरित शैलविज्ञान (स्ट्रैटिग्राफी), संगम साहित्य, सिक्के, मिट्टी के बर्तनों और रेडियो-कार्बन डेटिंग के आधार पर किया गया है। ब्रह्मगिरि में सांस्कृतिक अनुक्रम के आधार पर, व्हीलर ने तीसरी शताब्दी बी.सी.ई. से पहली शताब्दी सी.ई. के बीच महापाषाण की तिथि निर्धारित की है। दक्षिण भारतीय महापाषाण दफन स्मारकों का प्रतिनिधित्व करते हैं और, उस काल के सिक्कों के साथ मिट्टी के बर्तन, लोहे के औजार अक्सर वहाँ से मिले हैं। चंद्रावली से, रौलेटिड मृदभांड और पहली शताब्दी सी. ई. का एक रोमन चांदी का सिक्का मिला। कोयम्बटूर में एक पत्थर ताबूत कब्र में, रोमन सम्राट ऑगस्टस (63 बी.सी.ई. -14 सी.ई.) का एक सिक्का पाया गया है।

संगम साहित्य में विभिन्न प्रकार की दफन प्रथाओं का उल्लेख किया गया है जो मवेशियों को चुराने के आक्रमण के दौरान मारे गए नायकों की याद में स्मारक पत्थरों को खड़ा करने के विभिन्न तरीकों का वर्णन करते हैं। दाह संस्कार, पत्थर ताबूत कब्र , हांडी कब्र , शवाधान और खुले में शव को रखना – पांच प्रमुख प्रकार हैं जो *मणिमेक्लाई* और *सिलपडीकरम* में वर्णित मृत्यु संस्कार हैं। इन सभी प्रकार की प्रथाओं को दक्षिण भारत की महापाषाण संस्कृति में परिलक्षित किया गया है। *संगम* साहित्य की रचना पहली शताब्दी बी.सी.ई. से लेकर तीसरी शताब्दी के दौरान हुई थी।

कुछ रेडियो-कार्बन (14C) तिथियाँ महापाषाण स्थलों से उपलब्ध हैं। कर्नाटक में हल्लूर स्थल पर 1105 बी.सी.ई. और 955 बी.सी.ई. की दो रेडियोकार्बन तिथियां महापाषाण संदर्भ से बताई गई हैं। विदर्भ से, नाइकुंड और टकलघाट के स्थलों ने 700 बी.सी.ई. की रेडियोकार्बन तिथियां दी हैं। दक्षिण भारतीय महापाषाण संस्कृति विदर्भ की महापाषाण संस्कृति से बहुत पहले शुरू हुई थी। इन साक्ष्यों के आधार पर दक्षिण भारत की महापाषाण संस्कृति और दक्कन को **1000 बी.सी.ई. और 100 बी.सी.ई.** के बीच रखा जा सकता है।

लौह के साथ संबंध

दक्षिण भारत में लोहे के प्रयोग की शुरुआत के साथ महापाषाण संस्कृति निकटता से जुड़ी हुई है। हालाँकि, 'महापाषाण संस्कृति' शब्द का प्रयोग लौह युग संस्कृति के साथ समान रूप से नहीं किया जा सकता है। कुछ 33 प्रकार के लोहे के औजारों की पहचान महापाषाण कब्रों से की गई है (चित्र 10.5)। इनमें कृषि में प्रयोग की जाने वाली से कुदाली, दरांती और कुल्हाड़ियों को शामिल किया गया है; व्यंजन और तिपाई घरेलू उपयोग के लिए है; शिल्प गतिविधियों के लिए छेनी और कीलें; युद्ध और शिकार के लिए तलवारें, खंजर, भाले और

तीर कमान (जैन, 2006)। नागपुर के पास महुरझरी ने घोड़ों के सिर के आभूषणों के प्रमाण दिए हैं जो लोहे की गांठों वाली तांबे की चादरों से बने थे। विदर्भ में नायकुंड की महापाषाण स्थल से साक्ष्य अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं क्योंकि लोह को गलाने वाली भट्टी मिली है। इसी तरह तमिलनाडु में पय्यमपल्ली से बड़ी मात्रा में लोह तिलछट मिला है। यह इंगित करता है कि लोहे को गलाना एक स्थानीय गतिविधि थी। यह क्षेत्र लौह अयस्क में समृद्ध है। उत्तर भारतीय स्थल काकोरिया से कोई लोहे के औजार नहीं मिले थे, इसलिए काकोरिया की महापाषाण संस्कृति ताम्रपाषाण संस्कृति से जुड़ी है। दूसरी ओर, इसी क्षेत्र के कोटिया के लौह युग के कब्रों में महापाषाण लक्षण मिलते हैं। इस अवधि को तकनीकी प्रगति के रूप में समझा जा सकता है जब लोगों ने लौह अयस्क से लोहा निकालने के लिए आग पर नियंत्रण करना सीख लिया था।

सोने (चूड़ियाँ, अंगूठियाँ, झुमके, मनके), चाँदी (गुलमेख और मणिका), तांबा/पीतल (चूड़ियाँ और व्यंजन, प्रच्छद) के विभिन्न सामान भी पाए गए हैं, लेकिन कम पैमाने पर पाए गए हैं। जिन प्रमुख स्थलों पर सोने की वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं उनमें आदिचनल्लूर (तमिलनाडु), मास्की (कर्नाटक), नागार्जुनकोंडा (आंध्र प्रदेश), महुरझारी और जुनापानी (महाराष्ट्र) हैं। जूनापानी और नागार्जुनकोंडा में चांदी पाई गई है। खाप (नागपुर के पास) और आदिचनल्लूर से तांबे के बर्तन मिलते हैं। अर्ध कीमती पत्थरों की मणिका जैसे कि गोमेद और इंद्र गोप मणि (कार्नेलियन) और सीप और शृंग का प्रयोग भी किया जाता था।

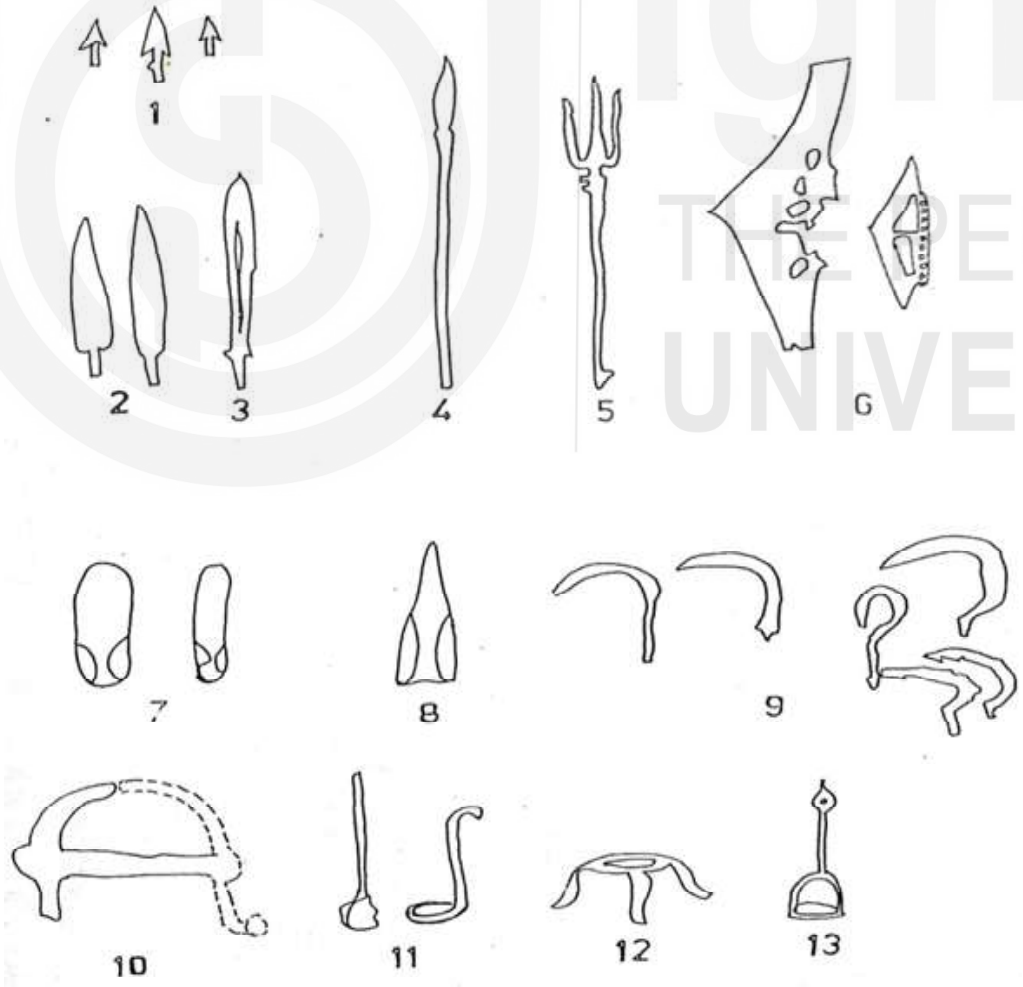

चित्र 10.5 : दक्षिण भारतीय महापाषाण कब्र से प्राप्त लोहे के औजार। 1. तीर; 2. खंजर; 3. तलवार; 4. भाला; 5 त्रिशूल; 6. लड़ाई कुल्हाड़ी; 7. कुदाली ; 8. साझा हल; 9. दंराती ; 10. रकाब; 11. कलछी ; 12. तिपाई; 13. दीपक। स्रोत : ई.एच.आई-02, खंड-3.

महापाषाण कालीन जीवनचर्या

महापाषाण स्थल आमतौर पर पानी, पत्थर और लोहे, सोने या अन्य धातुओं के स्रोतों के पास पाए जाते हैं। महापाषाण संस्कृति मुख्य रूप से एक ग्रामीण संस्कृति थी जिसमें कृषि और पशुपालन निर्वाह के प्रमुख साधन थे। शायद वे सिंचाई तकनीक से परिचित थे और खेती में लोहे के औजारों का इस्तेमाल करते थे। चावल, जौ और चने के दाने उनके कब्रों से मिलते हैं। प्रमुख पालतू जानवर गाय, भैंस, घोड़ा, भेड़ और बकरी थे। इस संस्कृति को एक जटिल समाज के रूप में चिह्नित किया जा सकता है जहां विभिन्न तत्व शिल्प और प्रौद्योगिकी में विशेषज्ञता हासिल करने के लिए सहयोग कर रहे थे। महापाषाण कब्रों से लोहे के औजार, काले-और-लाल मृदभांड, अर्ध-कीमती पत्थरों के मोती, सीप, धान- भूसी और आभूषण (चूड़ी, हार, अंगूठी) जैसी कई कलाकृतियाँ मिली हैं। एक बार में एक से अधिक लोगों को एक ही जगह दफ़नाया जाता था। यह इंगित करता है कि वे मृत्यु के बाद जीवन में विश्वास करते थे। महापाषाण के निर्माण में किसी तरह का सामुदायिक प्रयास माना जाता है क्योंकि बड़े पत्थरों से काम करना एक बहुत ही जटिल कार्य था।

बोध प्रश्न 1

1) भारत के पूर्व-लौह युग की संस्कृतियों पर दस पंक्तियों का लेख लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

2) महापाषाण के विभिन्न प्रकार क्या हैं? किसी दो पर चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

10.5 चित्रित धूसर मृद्भांड संस्कृति

उत्तर भारत के सभी स्थल जहां चित्रित धूसर मृद्भांड मिले हैं, वे लोहे से जुड़े हैं। उदाहरण के लिए, घग्घर-हकड़ा क्षेत्र के स्थल बिना लोहे के हैं, जबकि गंगा-यमुना दोआब में लोहे की वस्तुओं के प्रमाण मिले हैं। उत्तर भारत का लौह युग मोटे तौर पर चित्रित धूसर मृद्भांड संस्कृति से जुड़ा है। चित्रित धूसर मृद्भांड शब्द पेंटेड ग्रे वेयर के लिए हैं, जो एक मिट्टी के बर्तनों की परंपरा है जो कि स्लेटी रंग की है और जिसे काले डिजाइनों के साथ सजाया गया है।

भौगोलिक विस्तार

ये मृद्भांड उत्तरी भारत के एक विस्तृत क्षेत्र से पाये गये हैं। इन मिट्टी के बर्तनों को पहली बार 1940 में खुदाई के दौरान अहिच्छत्र (बरेली जिले) में खोजा गया था। अब तक इस

संस्कृति के 100 से अधिक पुरातात्विक स्थलों का पता चला है। चित्रित धूसर मृद्भांड मुख्य रूप से उत्तर प्रदेश, उत्तरी राजस्थान और पूर्व-उत्तरी भारत तक सीमित हैं। इस संस्कृति के प्रमुख पुरातात्विक स्थल उत्तर प्रदेश में अहिच्छत्र, हस्तिनापुर, कौशाम्बी, श्रावस्ती, श्रृंगवेरपुरा और मथुरा हैं; और बिहार में वैशाली; जम्मू में मंडा; मध्य प्रदेश में उज्जैन; पंजाब में रोपड़; राजस्थान में नोह और हरियाणा में भगवानपुरा है। इस मिट्टी के बर्तनों की परंपरा का विस्तार उत्तर में मंडा, दक्षिण में उज्जैन, पूर्व में तिलारकोट (नेपाल) और पश्चिम में लखियोपीर (सिंध, पाकिस्तान) से लगाया जा सकता है। ऊपरी गंगा घाटी में चित्रित धूसर मृद्भांड स्थलों की सांद्रता अधिक प्रमुख है। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वी भारत में चित्रित धूसर मृद्भांड संस्कृति का विस्तार देर से हुआ क्योंकि मध्य और निचली गंगा घाटी में चित्रित धूसर मृद्भांड के अधिकांश स्थलों से सीमित संख्या में ठीकरे मिले हैं और ये आरंभिक उत्तरी काली पॉलिश वाल मृद्भांड (एनबीपी) के सांस्कृतिक चरण से प्राप्त किए गए थे।

चित्रित धूसर मृद्भांड एक लोहे का प्रयोग करने वाली ग्रामीण संस्कृति थी, जो नदी के किनारे फैली हुई थी। महाभारत में कुछ स्थलों जैसे हस्तिनापुर, कुरुक्षेत्र, पानीपत, तिलपट, बागपत, मथुरा और बैरात में खुदाई की गई है। इन सभी स्थलों पर चित्रित धूसर मृद्भांड की खोज की गई है। वह कृषि-देहाती जीवन-शैली के सूचक हैं।

मृदभांड के प्रकार

इस संस्कृति के बर्तनों को एक तेज चाक पर वृहद तरीके से गूंदी हुई मिट्टी से बनाया जाता है। इस मिट्टी के बर्तनों में एक महीन सतह और एक चिकनी परिसज्जा है। यह बहुत अच्छी तरह से पकाकर बनाई जाती है। संपूर्ण चित्रित धूसर मृद्भांड समूह कुछ क्षेत्रीय विविधताओं के साथ समरूपी है। इस मृदभांड में मुख्य रूप से मेज पर खाने के बर्तन शामिल हैं और संभवतः इसका प्रयोग धनी वर्गों द्वारा किया जाता था। कुछ बड़े आकार के बर्तन जैसे घड़े और अवतल किनारे वाले कटोरे भी मिले हैं। काली परत वाले मृदभांड (Black Slipped ware), चित्रहीन स्लेटी मृदभांड (Plain Grey ware), और काले-एवं-लाल मृदभांड अन्य संबंधित बर्तन हैं। चित्रित धूसर मृदभांड बर्तनों का एक छोटा प्रतिशत बनता है।

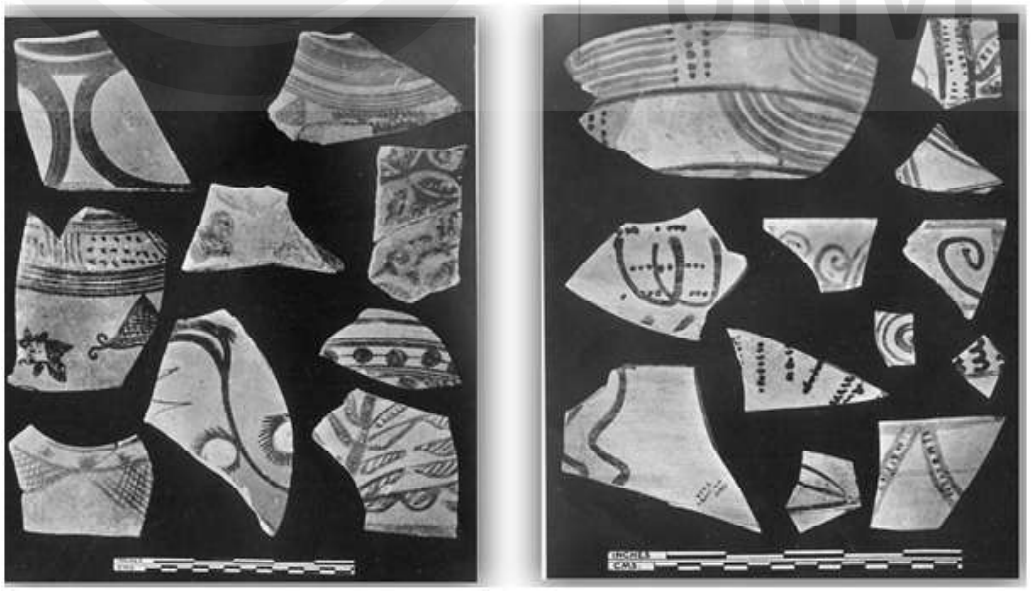

चित्र 10.6: रूपनगर, पंजाब से चित्रित धूसर मृद्भांड (दाएं) और हड़प्पा के लाल मृदभांड (बाएं) के मृद्भांड ठीकरे। श्रेयः अमन 0980. स्रोतः विकिमीडिया कॉमन्स (https://en.wikipedia.org/wiki/Painted_Grey_Ware_culture#/media/File:BaraSite.jpg)

चित्रित धूसर मृद्भांड विभिन्न ज्यामितीय डिजाइनों जैसे कि रेखा, आड़े-तिरछे, वृत्त, बिन्दु, और अर्ध वृत्त आदि से सुसज्जित हैं (चित्र 10.6)। स्वस्तिक को कुछ मिट्टी के बर्तनों पर भी चित्रित किया गया है। पचास से अधिक सजावटी पैटर्न की पहचान की गई है। ये सजावट घने काले रंग में बाहरी सतह पर बनाई गई है (चित्र 10.7)। कुछ के अंदर की सतह पर भी सजावट है। पकाने से पहले बर्तनों को चित्रित किया गया है। एक चिकनी परत दोनों अन्दर और बाहरी सतह पर लगाई गयी है। मृद्भांड को 600^0C पर कम होती उश्म पर पकाया जाता है। इससे सपाट व राख के रंग का प्रभाव आता है। इन लोगों ने पकाने की विधि में विशेषज्ञता हासिल की और इस तरह एक समान स्लेटी रंग हासिल किया। चित्रित धूसर मृद्भांड अवधि के लोग नवाचारी थे और यह उनके -धातु कर्म में भी परिलक्षित होता है।

कालक्रम

इस मिट्टी के बर्तनों की सबसे शुरुआती तारीखें अतरंजीखेड़ा और नोह से मिली है, जो क्रमशः 11वीं शताब्दी बी.सी.ई. और 9वीं शताब्दी बी.सी.ई. की हैं। अधिकांश स्थल चित्रित धूसर मृद्भांड संस्कृति की अवधि को 7वीं - 6वीं शताब्दी बी.सी.ई. दिखाते हैं। मध्य-गंगा घाटी में इन मिट्टी के बर्तनों को परवर्ती संदर्भ में (छठी शताब्दी बी.सी.ई. के आसपास) पाया जाता है, यह दर्शाता है कि यह इन क्षेत्रों में तब पहुंचा जब उत्तरी काली पॉलिश वाले मृद्भांड संस्कृति शुरू हो चुकी थी। मोटे तौर पर चित्रित धूसर मृद्भांड संस्कृति की समयावधि **1000-600 बी.सी.ई.** के बीच है।

चित्रित धूसर मृद्भांड संस्कृति एक अच्छी तरह से विकसित ग्रामीण जीवन का प्रतिनिधित्व करती है। कुछ अधिशेष उत्पादन का संकेत गोल और चौकोर भंडारण कोष्ठ की खोज से मिलता है। कृषि निर्वाह की मुख्य प्रणाली थी। पशुपालन, मछली पकड़ने का भी प्रचलन था। इस काल की मुख्य फसलें चावल (हस्तिनापुर) और जौ (नोह) थीं। गेहूं एक लोकप्रिय खाद्यान्न नहीं प्रतीत होता है। गाय और घोड़े मुख्य पालतू जानवर थे। हस्तिनापुर की खुदाई से घोड़े की हड्डियाँ बरामद हुईं है। खाद्य सामाग्री मे अनाज और मांस आहार का एक प्रमुख हिस्सा बना। अतरंजीखेड़ा से चूल्हा और कृषि उपकरण प्राप्त हुए हैं। जखेड़ा के स्थल पर दरांती, कुदाल और एक हल के फाल की प्राप्ति हुई है। हालांकि, अधिकांश लोहे के औजार शिकार या युद्ध से संबंधित हैं। इनमें कुंत (भाला), बल्लम, कटार और नुकीले तीर शामिल हैं। इस उत्तरी काली पॉलिश वाले मृदभांड की आगे वाली अवधि में हम देखते हैं कि कृषि उपकरणों की संख्या में वृद्धि हुई है।

चित्र 10.7 : चित्रित धूसर मृद्भांड। सौंख (यूपी)। सरकारी संग्रहालय, मथुरा श्रेय : बिस्वरुप गांगुली स्रोतः विकिमीडिया कॉमन्स https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Painted_Grey_Ware_-_Sonkh_-_1000-600_BCE_-_Showcase_6-15_-_Prehistory_and_Terracotta_Gallery_-_Government_Museum_-_Mathura_2013-02-24_6461.JPG

इस अवधि के घर मिट्टी की कच्ची ईंटों और छप्पर से बने थे। भगवानपुरा से कुछ पकी हुए ईंट पाई गई हैं। लेकिन पकी हुयी ईंटों का प्रयोग लोकप्रिय नहीं था। कई स्थलों पर अर्ध-कीमती पत्थर जैसे नीलोपल (लैपिस लजुली), सूर्यकांत मणि, गोमेद और गोपमणि के मनके बरामद किए गए हैं। चित्रित धूसर मृद्भांड संस्कृति के क्षेत्रों में कच्चे माल की अनुपलब्धता कुछ प्रकार के पार-क्षेत्रीय व्यापार और विनिमय व्यापार की ओर संकेत करती है। इस सांस्कृतिक चरण से सिक्कों का कोई प्रमाण नहीं मिला है। इस अवधि के लोग अन्य क्षेत्रों के साथ वस्तु विनिमय या विनिमय में शामिल थे। माक्खन लाल, जॉर्ज एर्दोसी और एम. आर. मुगल के शोध (विभिन्न क्षेत्रों) से कुछ बुनियादी स्थल पदानुक्रम के संकेत मिलते है। इन विद्वानों द्वारा अध्ययन किए गए अधिकांश चित्रित धूसर मृद्भांड स्थल 5 हेक्टेयर से छोटे पाए गए और अनुमान बताते हैं कि वहाँ औसतन 60-450 लोग रहते थे (सिंह, 2008)। कुछ सामाजिक-आर्थिक जटिलता का अनुमान इस अवधि के लिए लगाया जा सकता है। कुछ स्थलों (जखेड़ा) में मौजूद कुछ आद्य-नगरीय तत्व छठी शताब्दी बी.सी.ई. के पूर्ण शहरीकरण की शुरुआत करते दिखते हैं।

10.6 उत्तरी काली पॉलिश वाले मृद्भांड

उत्तरी काली पॉलिश वाले मृद्भांड (NBPW) भारतीय उपमहाद्वीप की एक महत्वपूर्ण मिट्टी के बर्तन की परंपरा है। इसकी समय सीमा 700 बी.सी.ई.-100 बी.सी.ई. है। इस अवधि के दौरान गंगा घाटी में राज्यों के गठन और शहरीकरण के उद्भव से संबंधित प्रक्रियाओं को निश्चित रूप दिया जा रहा था।

यह एक उत्कृष्ट बर्तन है, कभी-कभी 1.5 मिमी. जितना पतला होता है, अच्छी तरह से पकाकर बनाया हुआ है व चाक निर्मित है। यह एक तीव्र चाक पर बनाया गया है और यह एक धातु की ध्वनि देता है। चमकने वाली सतह को इतनी शानदार ढंग से बनाया गया है कि 2500 साल बाद भी इसकी चमक फीकी नहीं पड़ी है। सामान्य बर्तनों में सीधे, उत्तल, शुंक (टेपरिंग) और वलीयित किनारे के साथ कटोरे हैं; झुके किनारे वाले और उत्तल किनारों के साथ तृतरिया; घुंडीधारी ढक्कन; अवतल किनारे वाले कटोरे और छोटे घड़े। ये मिट्टी के बर्तन 1500 से अधिक स्थलों पर पाए गए हैं और उत्तर पश्चिम में तक्षशिला और चरसादा से लेकर आंध्र प्रदेश के अमरावती तक फैले हुए हैं; और गुजरात में प्रभास पाटन से लेकर बंगाल में तामलुक तक। मुख्य उत्खनन स्थलों में पंजाब में रोपड़, हरियाणा में राजा कर्ण का टीला और दौलतपुर; हस्तिनापुर, अतरंजीखेड़ा, कौशाम्बी, श्रावस्ती (यूपी); बिहार में वैशाली, पटना और सोनपुर हैं। पंजाब, हरियाणा, राजस्थान और यूपी के स्थलों पर, यह अतिव्याप्त के साथ चित्रित धसूर मृद्भांड चरण के साथ व पहले के है। पूर्वी यूपी और बिहार में उत्तरी काली पॉलिश वाले मृद्भांड लाल-एवं-काले मृदभांड चरण के बाद आते हैं (सिंह, 2008)।

भौगोलिक विस्तार

उत्तरी काली पॉलिश वाले मृद्भांड को पहली बार 1904 में सारनाथ (वाराणसी) में खुदाई के दौरान और फिर प्रयागराज के पास भीटा में रिपोर्ट किया गया था। तक्षशिला की खुदाई के दौरान, उत्खननकर्ताओं ने इसे एक ग्रीक काले मृद्भांड माना क्योंकि इस प्रकार के चमकते हुए मिट्टी के पात्र ग्रीक संस्कृति में बहुत लोकप्रिय थे। उत्तरी भारत (गंगा घाटी) में इसकी केन्द्रीयता उल्लेखनीय है, इसीलिए, इसे 'उत्तरी' काली पॉलिश वाले मृदभांड कहा जाता है। हालाँकि, यह केवल उत्तरी भारत तक ही सीमित नहीं है। ये मिट्टी के बर्तन कई रंगों जैसे चांदी, सुनहरा, नारंगी, चॉकलेट और गुलाबी में पाए जाते हैं, हालांकि इस मिट्टी के बर्तनों का ज्यादातर रंग काला है। इसीलिए इस मिट्टी के बर्तन को 'काला' कहा जाता

है। चमकने वाली सतह पॉलिश के कारण प्रतीत नहीं होती। तो, 'एनबीपीडब्ल्यू' नाम इस मिट्टी के बर्तनों के लिए एक मिथ्या नाम है।

मृदभांड के प्रकार

इस मिट्टी के बर्तनों की बाहरी सतह पर चमकदार परत होती है और अंदर काला रंग होता है। इस मिट्टी के बर्तन को पाँच श्रेणियों में विभाजित किया गया है। पहला प्रकार महीन स्वरूप का है और इसमें कटोरे शामिल हैं। दूसरे प्रकार का मृदभांड अपेक्षाकृत पतले स्वरूप का है और तश्तरियां मुख्य हैं।

उत्तरी काली पॉलिश वाले मृद्भांड मुख्य रूप से एक मेज पर खाने के बर्तन हैं (चित्र 10.8)। कुछ उत्तरी काली पॉलिश वाले मृद्भांड दो रंगों में चित्रित किए गए थे। यह उत्तरी काली पॉलिश वाले मृद्भांड पर चित्रित धूसर मृद्भांड के प्रभाव और निकट समानता को दर्शाता है। सजावट के इस पैटर्न में ऊर्ध्वाधर रेखा मे क्षैतिज पट्टी, वृत्त मे बिन्दु ,गोल, बैल और अर्ध-गोल शामिल हैं। यह संभव है कि यह मिट्टी का बर्तन चित्रित धूसर मृद्भांड से विकसित हुआ हो। इस मिट्टी के बर्तन का सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान था क्योंकि कुछ टूटे हुए भांड़ों को तांबे के तारों से जोड़ा हुआ पाया गया है।

विनिर्माण प्रौद्योगिकी

उत्तरी काली पॉलिश वाले मृद्भांड को बंद ज्वलित भट्टी में नियंत्रित वातावरण में पकाया जाता था। यह मिट्टी के बर्तन निर्माण के इतिहास में एक महान तकनीकी नवाचार था। बंद भट्ठे ने ज्वलनशीलता की स्थिति को कम करने और ऑक्सीकरण वातावरण और तापमान के अधिकतम उपयोग को प्राप्त करने के लिए नियंत्रण की सुविधा प्रदान की। यह माना जाता था कि एनबीपीडब्ल्यू की काली चमक कुछ प्रकार के उत्तर-ज्वलनशील उपचार का परिणाम था जिसमें गर्म मिट्टी के बर्तनों को वनस्पति या पशु मूल के कुछ कार्बनिक तरल के साथ लेपित किया गया था। फिर भी एक अन्य भू-रासायनिक अध्ययन का प्रस्ताव है कि उत्तरी काली पॉलिश वाले मृद्भांड का काला रंग चुंबकीय लौह ऑक्साइड की उपस्थिति के कारण था। सतह पर विशेष अभ्रक प्लेटलेट्स के संरेखण का एक उत्पाद था। लेकिन सिद्धांतों में से कोई भी सफलतापूर्वक उत्तरी काली पॉलिश वाले मृद्भांड के चमक के लिए एक सही व्याख्या प्रदान नहीं करता है। यह अच्छी तरह से स्थापित है कि उत्तरी काली पॉलिश वाले मृद्भांड उत्पादकों ने एक उच्च तकनीकी उत्कृष्टता हासिल की है और उत्तरी काली पॉलिश वाले मृद्भांड उत्पादन तकनीक शिल्पकारों के एक विशेष वर्ग तक ही सीमित थी। जब इस मिट्टी के बर्तनों ने धीरे-धीरे समाज में अपना महत्व खो दिया तो निर्माण तकनीक भी गायब हो गई।

उत्तरी काली पॉलिश वाले मृद्भांड संस्कृति

उत्तरी काली पॉलिश वाले मृद्भांड संस्कृति भारतीय उपमहाद्वीप में लौह प्रौद्योगिकी के व्यापक प्रयोग के युग से संबंधित है। रेडियोमेट्रिक तिथियां इसकी प्राचीनता को 8वीं शताब्दी बी.सी.ई. तक रेखांकित करती है लेकिन यह आम तौर पर नगर स्थलों से जुड़ा हुआ है जो गंगा घाटी में बौद्ध धर्म (छठी शताब्दी बी.सी.ई.) के प्रारंभिक चरण के दौरान विकसित हुए थे।

उत्तरी काली पॉलिश वाले मृद्भांड चरण 'द्वितीय शहरीकरण' से जुड़ा है जो इस अवधि के बसने के प्रारूप, बस्ती, सिक्के, कृषि और पशुपालन, कला और वास्तुकला और व्यापार गतिविधियों में परिलक्षित होता है। बड़ी आबादी वाले स्थलों के पास छोटी बस्तियों के विकास से मानव आबादी के उल्लेखनीय वृद्धि का पता चलता है।

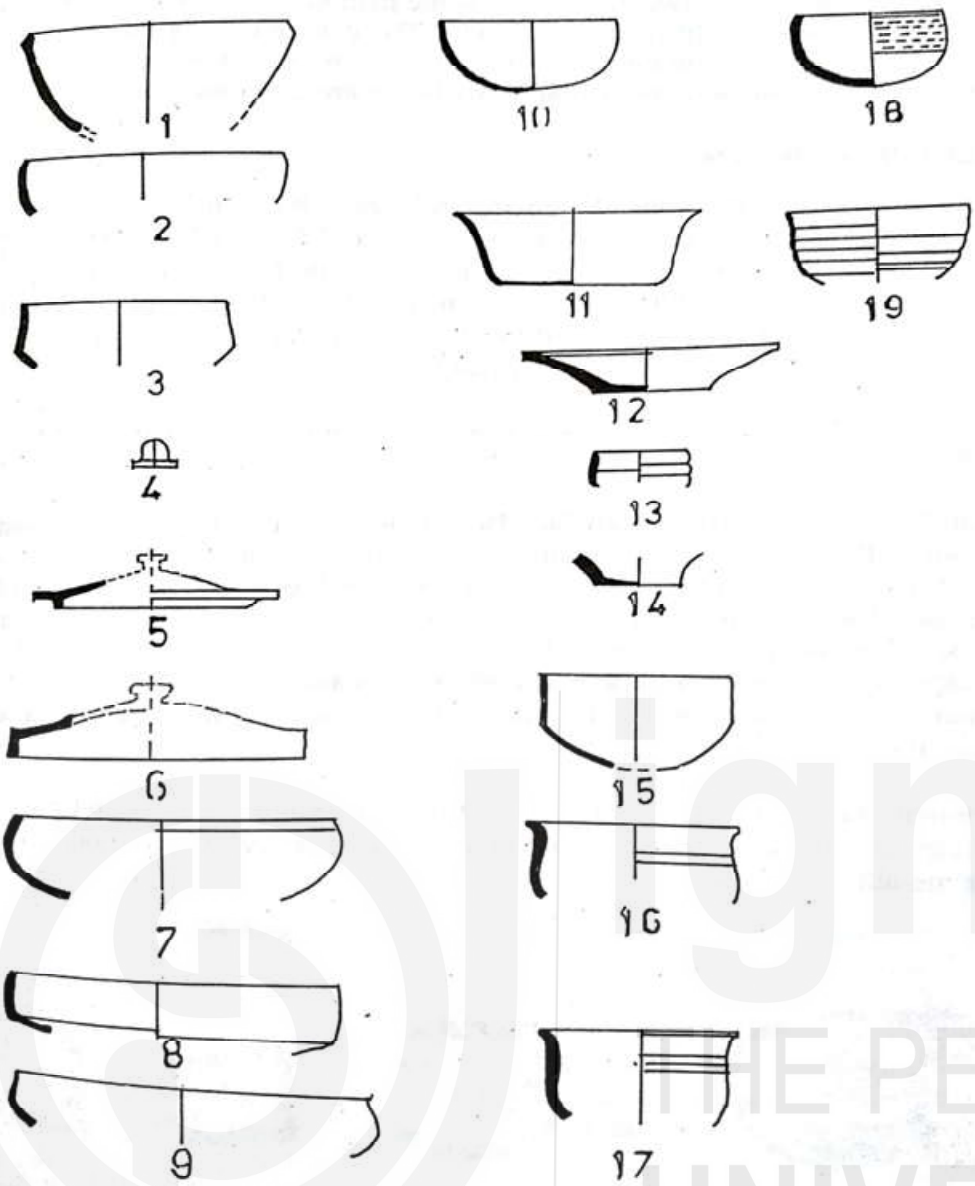

चित्र 10.8: उत्तरी काली पॉलिश वाले मृद्भांड। स्रोत : ई.एच.आई.-02, खंड-3

प्रारम्भिक आहत सिक्कों (Punch marked coins) में से कुछ उत्तरी काली पॉलिश वाले मृद्भांड के साथ जुड़े हुए हैं। एक मानक माप प्रणाली अस्तित्व में आई थी जो व्यापार और वाणिज्य के लिए आवश्यक थी। बौद्ध साहित्य में इस अवधि में व्यापार गतिविधियों में वृद्धि और विभिन्न व्यापारिक समूहों के गठन का उल्लेख है।

व्यापक व्यापार गतिविधियों के अस्तित्व के बावजूद, निर्वाह का प्रमुख साधन कृषि और पशुपालन था। इस अवधि में लोग एक वर्ष में दो फसलों की खेती कर रहे थे। सिंचाई के लिए नहर और तालाबों का प्रयोग किया जाता था। चावल, गेहूं, जौ, दाल, सरसों आदि अनाज प्रमुख कृषि उपज थे। उज्जैन, अल्लाहपुर, श्रावस्ती और कौशाम्बी से धातु और हड्डी के तीर पाए गए। मछली पकड़ने के लिए जाल निमज्जक (नेट-सिंकर्स) और धातु मछ्ली कँटिया का इस्तेमाल किया गया है।

यह अवधि कला और शिल्प गतिविधियों में वृद्धि के साथ चिह्नित है। हाथी, बैल, हिरण, रथ और अन्य खिलौनों की पक्की मिट्टी की आकृतियां इस सांस्कृतिक संदर्भ से मिलीं हैं। इस अवधि में, मातृ देवी, साँप और पौराणिक जीवों की पक्की मिट्टी की मूर्तियाँ जिनमें मानव सिर और जानवरों के शरीर भी पाए गए हैं, भी मिलती हैं।

दिग्घनिकाय के *महापरिनिब्बान सूत्र* के अनुसार, छठी शताब्दी बी.सी.ई. के दौरान चंपा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी और वाराणसी के स्थल प्रमुख शहरों के रूप में थे। इन स्थलों पर खुदाई से एक अच्छी तरह से विकसित शहर-योजना का पता चला है। इस काल के लोग आयताकार घरों में रह रहे थे। पकी हुयी ईंटों से मकान बनाए गए थे । सभी स्थलों से, मल सोंखने के गड्ढ़े व छल्लेदार कुंए पाए गये हैं जो स्वच्छता के प्रति लोगों की चिंता का संकेत देते हैं। पानी की निकासी के लिए, पक्की मिट्टी के पाइप का प्रयोग किया गया था।

सब कुछ मिलाकर यह संस्कृति संबंधित क्षेत्रों में शहरी केंद्रों के विकास का एक सुसंगत चित्र प्रस्तुत करती है। इस सांस्कृतिक अवधि को भारतीय संस्कृति की नींव के रूप में चिह्नित किया जा सकता है जब लोगों ने अपनी सामाजिक आवश्यकताओं के लिए नई तकनीक को अपनाया।

10.7 गंगा घाटी में शहरीकरण

पुरातत्व में शहरीकरण को समझने की दिशा में एक प्रारंभिक प्रयास गॉर्डन वी. चाइल्ड द्वारा किया गया था, जिन्होंने अपने प्रपत्र 'द अर्बन रिवोल्यूशन '(चाइल्ड, 1950) में शहरों की पहचान करने के लिए दस कसौटी प्रस्तावित की थी। उनका अध्ययन मुख्य रूप से मेसोपोटामिया शहरीकरण पर आधारित था। उन्होंने प्रस्ताव दिया कि यदि स्थल में निम्नलिखित दस विशेषताएं हैं तो वह एक शहर के लिए योग्य हो सकता है:

1) बड़ा बसावट का आकार
2) शिल्प विशेषज्ञता
3) अधिशेष का केंद्रीकरण
4) विशाल सार्वजनिक वास्तुकला
5) शासक वर्ग और विकसित सामाजिक स्तरीकरण
6) लेखन
7) भावी सूचक और सटीक विज्ञान
8) अवधारणात्मक और परिष्कृत कला शैलियाँ
9) अंतर-क्षेत्रीय लंबी दूरी का व्यापार
10) नातेदारी से परे सामाजिक संगठन।

चाइल्ड का उपरोक्त सिद्धांत काफ़ी हद तक अधिशेष उत्पादन की अवधारणा पर निर्भर है। अधिशेष उत्पादन ने शासक वर्ग, सामाजिक स्तरीकरण और शहरों के अन्य लक्षणों के विकास की शुरुआत की। इस परिकल्पना का उपयोग बाद में मार्क्सवादी इतिहासकारों ने प्रारंभिक भारत के शहरीकरण की व्याख्या करने के लिए किया था। डी.डी. कोशांबी (कोशांबी, 1963) के अनुसार प्राचीन भारत में शहरीकरण का आगमन लौह तकनीक से जुड़ा था। उन्होंने कहा कि लोहे के औजारों के व्यापक उपयोग से वनों की सफाई और कृषि अधिशेष में वृद्धि हुई। इस प्रक्रिया के कारण जनसंख्या में नाटकीय रूप से वृद्धि हुई और इसने कृषि उत्पादन में वृद्धि में सहायता की जिससे अंततः शहरी केंद्रों और शासक वर्ग का विकास हुआ। आर.एस. शर्मा (शर्मा, 1974) का तर्क है कि उत्पादन की प्रक्रिया ने वर्ग-आधारित और राज्य-आधारित समाज के उत्थान के लिए पर्याप्त अधिशेष उत्पादन उपलब्ध कराया। वे आगे बताते हैं कि अधिशेष उत्पादन ने सामाजिक पदानुक्रम को जन्म

दिया जो प्राचीन भारत में वर्ण व्यवस्था के रूप में उभरा। यह व्याख्या चाइल्ड के शहरी क्रांति (Urban Revolution) के सिद्धांत के अनुरूप थी, जहाँ एक शासक वर्ग के उदय और सामाजिक जटिलताओं और शहरी केंद्रों के अन्य लक्षणों के विकास के लिए अधिशेष आवश्यक था। हालांकि, यह व्याख्या बहुत ही स्थैतिक है और शहरीकरण की गतिशील प्रक्रिया की जांच करने में विफल है। ए. घोष ने अधिशेष के सवाल को उठाया कि अधिशेष के भंडार और इसके आवश्यकता में कौन पहले आया? (घोष, 1973) उन्होंने कहा कि अधिशेष का राज्य की अनुपस्थिति में संचित और उपयोग नहीं किया जा सकता है। एम.के. धवलिकर (1999) ने सुझाव दिया कि शहरीकरण का मतलब है – एक बड़ी आबादी, एक मजबूत कृषि आधार, अच्छी तरह से विकसित व्यापार, जिसमें कुशल कारीगर भी शामिल हैं। लेकिन केंद्रीकृत सत्ता तंत्र केवल एक बाध्यकारी बल के रूप में कार्य करती है।

गंगा घाटी में द्वितीय शहरीकरण छठी शताब्दी बी.सी.ई. के दौरान हुआ था। इस अवधि के दौरान बस्तियों का प्रसार हुआ और बस्तियों के भीतर एक चार स्तरीय पदानुक्रम दिखाई दिया। जनसंख्या में तेजी से वृद्धि के कारण ऐसा हुआ। इस प्रक्रिया के लिए कृषि ने एक मजबूत आधार प्रदान किया। विभिन्न प्रकार के अनाज जैसे जौ, दाल, गेहूं और चावल का उत्पादन किया गया। यह उचित है कि इस अवधि के दौरान पुरातात्विक स्थलों से कृषि के लिए लोहे के औजार बहुतायत में पाए जाते हैं। लोहे के औजारों ने निश्चित रूप से कृषि उत्पादों को बढ़ावा दिया जो एक बड़ी आबादी का भरण पोषण करने में सहायता करते थे और अधिशेष उत्पादन के संचय के लिए प्रेरित करते थे। लेकिन क्या लोहे को इस प्रक्रिया के प्रमुख प्रस्तावक के रूप में चिह्नित किया जा सकता है? इस मुद्दे पर बहस जारी है। यह मानना उचित है कि अन्य कारक भी महत्वपूर्ण थे। एक विशेष प्रौद्योगिकी के लिए सामाजिक प्रतिक्रिया, संसाधनों की उपलब्धता और सामाजिक जटिलता ने राज्य के उद्‌भव में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

बोध प्रश्न 2

1) सही (✓) और गलत कथन (✗) को पहचानें ।

   क) सैपई और सनौली में खुदाई से तांबे के भंडार के पुरातात्विक संदर्भ का पता चला। ( )

   ख) ताम्रपाषाण संस्कृतियाँ हड़प्पा संस्कृतियों का एक अन्य प्रकार थीं।

   ग) राजस्थान के ताम्रपाषाण लोगों ने खेत्री खदानों से तांबे के कच्चे माल की प्राप्ति की। ( )

   घ) भारत में लौह प्रौद्योगिकी मेसोपोटामिया से उधार ली गई थी। ( )

   ङ) पूरे भारत में काले-एवं-लाल मृदभांड पाये गये हैं। ( )

   च) शवपेटिका पक्की मिट्टी के ताबूत थे। ( )

   छ) महापाषाण कब्रों में लोहा नहीं पाया गया। ( )

   ज) उत्तरी काली पॉलिश वाले मृद्‌भांड गंगा घाटी में दूसरे शहरीकरण से जुड़े हुऐ हैं। ( )

   झ) चित्रित धूसर मृद्‌भांड को पूर्व-लौह युग के संदर्भ में भी पाया गया है। ( )

2) उत्तर भारत की प्रमुख लौह कालीन संस्कृतियों पर चर्चा करें।

.....

.....

.....

10.8 सारांश

निर्वाह और विकास के मामले में मानव जीवन में लोहे का प्रयोग एक प्रगति का सूचक था। प्रारंभिक भारत में लोहे का प्रयोग करने वाली कई संस्कृतियां थीं। चित्रित धूसर मृदभांड संस्कृति और उत्तरी काली पॉलिश वाले मृदभांड संस्कृति सबसे महत्वपूर्ण थी। शुरुआती चरण में हथियारों की प्रधानता थी जबकि बाद के चरण में कृषि उपकरणों का प्रसार था। क्या लोहे के उपकरणों ने वास्तव में अधिशेष उत्पादन के लिए जंगलों को साफ करने में मदद की और राज्य की स्थापना की? यह अभी भी एक बहस का मुद्दा है और इस पर और अधिक शोध की आवश्यकता है। अधिशेष समय की एक छोटी अवधि में नहीं बढ़ा, बल्कि यह एक लंबी और धीमी प्रक्रिया का हिस्सा था।

10.9 शब्दावली

पशु पालन : मनुष्यों द्वारा जानवरों का अनुकूलन। पशुओं को पालतु बनाकर या उनके उत्पादों (जैसे मांस, दूध, ऊन) आदि की आपूर्ति कर के उनका प्रयोग किया जाता है।

पुरातत्व वनस्पति विज्ञान (archaeo-botany) : यह प्राचीन पौधों का अध्ययन है जो अतीत के पर्यावरण और मानव निर्वाह के अध्ययन के लिए पुरातात्विक खुदाई से प्राप्त हुआ है।

जटिल समाज : जटिल समाजों की पहचान कम आवासीय गतिशीलता से होती है, जो आर्थिक उत्पादन और श्रम के विभाजन, श्रेणीबद्ध स्थिति, संस्थागत नेतृत्व और वंशानुगत स्थिति के अंतर की उपस्थिति का कारण बनती है।

पर्यावरण पुरातत्व : यह मानव और उनके पर्यावरण के बीच दीर्घकालिक संबंधों को समझने के लिए अतीत के मानव पर्यावरण की अन्तःक्रिया का अंतःविषय अध्ययन है।

रेडियोकार्बन डेटिंग : यह एक लोकप्रिय निरपेक्ष डेटिंग पद्धति है जो पुरातात्विक सामग्री का आधुनिक काल में लगभग 55000 वर्षों तक का काल निर्धारण कर सकती है। यह तकनीक कार्बन (C12) और कार्बन समस्थानिक (C14) के स्थिर परमाणु के अनुपात के मापन पर आधारित है। यह विधि ऐसी कलाकृतियों तक सीमित है जिनमें एक घटक के रूप में कोयला (carbon) है।

प्रगलन : यह धातुकर्म प्रक्रिया का एक उन्नत चरण है जिसके द्वारा एक धातु को पिघलने वाले बिंदु से परे गर्म करके अयस्क से प्राप्त किया जाता है।

संदीप्ति परीक्षा (Thermoluminiscence Dating) : यह एक डेटिंग विधि है जिसका उपयोग उन वस्तुओं का काल निर्धारण करने के लिए किया जाता है जिन्हें अतीत में आग में पकाया गया है (जैसे मृदभांड)।

शहरी क्रांति : यह गॉर्डन वी. चाइल्ड द्वारा सुझाई गई एक परिकल्पना है। यह आदिम सामाजों में अचानक परिवर्तन से बड़े, शहरी और जटिल समाजों की उत्पत्ति की व्याख्या करती है।

10.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) कृपया भाग 10.2 और इसके उप-भाग देखें।

2) कृपया भाग 10.4 और इसके अन्य उप-भाग देखें।

बोध प्रश्न 2

1) क) ✓ ख) × ग) ✓ घ) × ङ) ✓
च) ✓ छ) × ज) ✓ झ) ✓।

2) कृपया भाग 10.5 और 10.6 देखें।

10.11 संदर्भ ग्रन्थ

ऑलचिन एफ. आर. (1995). *द आर्क्योलोजी ऑफ अर्ली हिस्टोरिक साऊथ ऐशिया.* केम्ब्रिज : केम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस.

चक्रवर्ती, डी. के. (1999). *इंडिया : एन आर्क्योलोजिकल हिस्ट्री (पैल्योलिथिक बिग्निंग्स टू अर्ली हिस्ट्री फाऊडेशन्स).* नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस.

चाईल्ड, जी. (1950). द अर्बन रेव्यूलूशन. *टाऊन प्लैनिंग रिव्यू.* 21 (1) : 3-17.

घोष, ऐ (1989). *ऐन ऐनसाईक्लोपीडिया ऑफ इंडियन आर्क्योलोजी.* नयी दिल्ली : मुंशीराम मनोहरलाल, वॉल्यूम 1 और 2.

एर्दोसी, जी. (1988). *अर्बनाईज़ेशन इन अर्ली हिस्टोरिक इंडिया.* ऑक्फोर्ड : बी. ए. आर इंटरनेशनल सीरीज़ 430.

जैन, वी.के. (2006). *प्रीहिस्ट्री एंड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इंडिया. ऐन अप्रेज़ल.* दिल्ली : डी. के. प्रिंटवर्ल्ड.

शर्मा, आर. एस. (1974) आईरन एंड अर्बनाईजेशन इन द गंगा वैली. *इंडियन हिस्टोरिकल रिव्यू* 1 (1) : 93-103.

सिंह, उपिन्दर (2008). *ए हिस्ट्री ऑफ ऐंशियंट ऐंड अर्ली मेडिवल इंडिया : फ्रॉम द स्टोन ऐज टू द 12वीं सेन्च्यूरी.* नई दिल्ली : पियर्सन ऐडुकेशन इंडिया.

व्हीलर, मोर्टीमर (1959). *अर्ली इंडिया एंड पाकिस्तान.* लंदन : थेम्स एंड हडसन.

इकाई 11 बौद्धिक विकास और तपश्चर्या*

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 छठी शताब्दी बी.सी.ई. के समाज और धर्म में परिवर्तन

11.3 तपश्चर्या (वैराग्य) का आरंभ

11.4 *उपनिषदों* का चिन्तन

11.4.1 *आत्मन्-ब्रह्मन्*

11.4.2 *स्थानांतरणगमन* (Transmigration) का सिद्धांत

11.4.3 मुक्ति का सिद्धांत

11.5 *शड्दर्शन* या दर्शन की छह प्रणालियाँ

11.6 नास्तिक विचारों के मत

11.6.1 बौद्ध धर्म

11.6.2 जैन धर्म

11.6.3 संशयवाद और भौतिकवाद

11.7 सारांश

11.8 शब्दावली

11.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.10 संदर्भ ग्रंथ

11.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप सीखेंगे :

- छठी शताब्दी बी.सी.ई. की अवधि में बौद्धिक विकास;
- उपनिषदों के चिंतन की मुख्य विशेषताएं;
- दर्शन की छह प्रणालियां;
- बौद्ध और जैन धर्मों का दर्शन; और
- तपश्चर्या और कैसे यह रूढ़िवादी और विधर्मिक समूहों में सम्मिलित किया गया।

11.1 प्रस्तावना

इससे पहले कि हम छठी शताब्दी बी.सी.ई. के प्रमुख सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में विकास के बारे में जाने या 'द्वितीय नगरीकरण' की प्रक्रियाओं, शहरों और कस्बों के उद्भव, *जनपदों* और *महाजनपदों* के उदय, बौद्ध और जैन धर्म जैसे नए धर्मों के विकास की प्रक्रियाओं का अध्ययन करें, हम इस इकाई में हम छठी शताब्दी बी.सी.ई. में हुई बौद्धिक विकास की प्रक्रिया को देखेंगे।

* डॉ. शुचि दयाल, सलाहकार, इतिहास विभाग, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली।

भारतीय उपमहाद्वीप ने प्रथम सहस्राब्दी बी.सी.ई. के मध्य में चिंतनशील विचारों को फलते-फूलते देखा। नई विचारधाराएं उभरीं। हालांकि इस तरह के विचार अपरिपक्व रूप में वेदों में उपस्थित थे; नए बौद्धिक विचार विधर्मिक संप्रदायों में भिन्न तरीकों से और अधिक परिपक्वता से विकसित हुए। ब्राह्मणवादी रूढ़िवादी परम्परा के उपनिषदों ने इस परिवर्तन को संपुहित किया। विधर्मिक परम्परा में अनेक विचार उभरे, जो यज्ञ की प्रभावकारिता पर प्रश्न उठा रहे थे और वैदिक शिक्षा की वैधता के विरूद्ध थे। इस इकाई में हम उनके बारे में सीखेंगे।

11.2 छठी शताब्दी बी.सी.ई. के समाज और धर्म में परिवर्तन

छठी शताब्दी बी.सी.ई. का युग परिवर्तनों का युग था। पुराना कबीलाई समाज दम तोड़ रहा था। कबीलाई एकजुटता द्वारा मिलने वाली सुरक्षा और आराम की भावना का क्षय हो गया। बैचैनी की गहरी भावना से कुछ लोगों ने तपश्चर्या का रूख लिया।

उत्तर वैदिक काल में मुख्यतः उपनिषदों में 'मृत्यु के बाद जीवन' के बारे में नए विचार पहले से ही व्यक्त किये गये थे। ज्ञान की खोज व वैदिक अनुष्ठान के साथ बढ़ते असंतोष ने कुछ लोगों को सत्य की खोज में सामाजिक दायित्वों से बाहर निकलने के लिए प्रोत्साहित किया। इन त्यागकर्ताओं ने समाज को बदलने की नहीं बल्कि एक तरफ़ खड़े होकर वैकल्पिक व्यवस्था बनाने की इच्छा जताई। सामंज्य की इस खोज ने विभिन्न विधर्मिक संप्रदायों के उद्भव में योगदान दिया। यज्ञ और बलि ब्राह्मणवादी धर्म की मुख्य विशेषता थी। वेदों में बलि के महत्व को प्रतिष्ठित किया गया जो कबीलों के धनी और शक्तिशाली प्रमुखों की ओर से शुरू किए गए थे। बलि का मुख्य उद्देश्य देवताओं को संतुष्ट कर बदले में उनसे वरदान प्राप्त करना था। इन बलि का उद्देश्य इच्छाओं की पूर्ति, अधिक से अधिक धन, पुत्र, पशु, युद्ध में सफलता और लंबे जीवन के लिए था। पुरोहितों की मध्यस्थता से यह सब एवं अन्य बहुत कुछ सुनिश्चित किया जाता था। केवल पुरोहित अनुष्ठान और बलि की विधियों की जटिलताओं से परिचित थे और जानते थे कि किस प्रकार ईश्वर को खुश करके असीम शक्ति प्राप्त की जा सकती है।

समायोजन की इस खोज ने विभिन्न विधर्मिक सम्प्रदायों को जन्म दिया। उत्तर वैदिक काल की धार्मिक विचारधारा में अनेक परिवर्तन देखे जा सकते हैं। उत्तर वैदिक काल से ही बलि का महत्व बढ़ता गया। ब्रह्मांड को भी बलि से उत्पन्न माना गया। नियमित बलियों ने ब्रह्मंड की निरंतरता को सुनिश्चित कर अराजकता को रोका। इस प्रकार देवता गौण थे और बलि विधि में मध्यस्थ रहे ब्राह्मणों की भूमिका अग्रणी हो गयी जो अपने यजमान के लिए खुशी और सामाजिक प्रतिष्ठा ला सकते थे या इसके विपरीत अनुष्ठान में थोड़ी सी भिन्नता से उसे नष्ट भी कर सकते थे। हालांकि इस समय वैदिक धर्म के कठोर रीति-रिवाजों के प्रति अंसतोष भी आरम्भ हो गया। बलि प्रथा को अब अमान्य माना जाने लगा। बौद्ध और जैन ग्रंथों ने कई स्थानों पर ब्राह्मण के बलिदानों और अनुष्ठानों की आलोचना की और वे ब्राह्मण विरोधी रुख अपनाते थे। इसके अलावा सामाजिक बनावट में कुछ खास बदलाव भी विनाशकारी साबित हो रहे थे। लोगों में असंतोष की गहरी भावना प्रबल हो रही थी। ''द्वितीय नगरीकरण'' के प्रभाव ने नए नगरों, मुद्राओं, धन के नए रूपों और अमीर लोगों की नई श्रेणीं *सेठी* और *गहपति* (बेहद अमीर व्यापारियों और वित् प्रबन्धकों) के उदय की शुरुआत की। यह समृद्धि लौहे के उपयोग पर आधारित थी जिसके कारण वनों की कटाई और भूमि की उपलब्धता संभव हो पाई। हल विधि से कृषि के विस्तार और अधिशेष ने नए राज्यों के उद्भव को संभव बनाया। ये थे – राजतंत्र और गणतंत्र। क्षत्रिय शक्तिशाली हो गए, और भूमि और धन समृधि की नई कसौटी बन गए। मवेशी अब इतने महत्वपूर्ण नहीं

रह गये थे। *जनपदों* की राजधानियाँ जैसे कोशाम्बी, काशी, अयोध्या और राजगृह आदि प्रमुख व्यापारिक नगर भी थे। इस जीवंत अर्थव्यवस्था की अन्य विशेषताएं थीं : धातु की मुद्रा का उपयोग, व्यापार, व्यापार नेटवर्क, सूदखोरी, सामाजिक स्तरीकरण, श्रेणियाँ (guilds) और अलगाव की भावना में वृद्धि। यह विकास अन्य परिवर्तनों में भी संलग्न हो गया। प्रारम्भिक अवधि की काबिलाई पदानुक्रम ने क्षेत्रीय पहचान को रास्ता दिखाया। *जनपदों* और *महाजनपदों* का उदय हुआ। इन *जनपदों* के नाम *क्षत्रियों* अथवा दूसरे *जन* (कबीलों) के नाम पर रखे गए जैसे गांधार, कुरू, पांचाल, मत्स्य, चेदि, काशी, कोशल, मगध आदि। क्षत्रियों द्वारा शक्ति और सत्ता का उपयोग किया गया और बल का प्रयोग वैध हो गया। यह एक उत्तर कबिलाई समाज था जिसमें नातेदारी समूह टूट रहे थे। यह बढ़ता हुआ वर्गीकृत समाज उनका विरोध करता था जो उसके मानदंडों के अनुरूप नहीं थे। एक नई व्यवस्था अस्तित्व में आ रही थी। *मैत्रीयणी उपनिषद* में एक राजा इस प्रकार बोलता है, *''मैं एक सूखे कुएं के मेढ़क की तरह हूं''*। यह बढ़ती असुरक्षा का संकेत है। कठिन समय से बच निकलने के प्रयास ने विधर्मिक संप्रदायों के उद्भव को बढ़ावा दिया।

इसके अतिरिक्त, मानव की मुक्ति या मोक्ष के मौलिक प्रश्नों के उत्तर खोजने की तीव्र इच्छा का उदय हुआ। विभिन्न विचार दिये गये लेकिन कोई भी संतोषजनक नहीं पाया गया। कई लोगों का मानना था कि समाज में हो रहे इस निरंतर परिवर्तन की समस्या का समाधान तपस्चर्या था। इसके अतिरिक्त चिन्तन या तपस्या के माध्यम से एक व्यक्ति आत्म ज्ञान प्राप्त कर सकता था जो उसे देवताओं से भी श्रेष्ठ बना सकता था। व्यक्ति तपश्चर्या से सभी सामाजिक संबंधों और दायित्वों से मुक्त हो सकता था और बदले में तपस्वी की नैतिक स्थिति बलि करवाने वाले पुरोहित की तुलना में अधिक प्रतिष्ठित हो जाती थी।

इन चिंतनशील विचारों का उद्भव क्या सिर्फ 'जीवन निषेध' का एक रूप था? या नहीं भी हो सकता है। तपस्वी ना केवल निराशावाद से बचने की कोशिश कर रहे थे बल्कि सच्चे ज्ञान की खोज में भी थे। *वेदों* में उपलब्ध ज्ञान को पर्याप्त नहीं समझा गया। *ऋग्वेद* में सृजन के प्रश्नों के उद्भव के साथ, ब्रह्मांड और मानव के बारे में प्रश्न उभरे। सृजन के सूक्त में, दार्शनिक संदेह का प्रारम्भिक प्रतिनिधित्व है और उससे अमूर्त विचार के आरम्भ की नीवं पड़ी। छठी शताब्दी बी.सी.ई. में ब्रहांड की उत्पत्ति, आत्मन् की प्रकृति, ब्रह्मांडीय ऊर्जा और उभरती चेतना से संबंधित विस्मयकारी अटकलों और वैकल्पिक विचारों की उत्पति हुई। इनमें से कुछ विचारों को ब्राह्मणवादी प्रणाली द्वारा स्वीकार कर *उपनिषदों* में सम्मिलित किया गया जो रूढ़िवादी परम्परा का प्रतिनिधित्व करते थे। दूसरे विचारों ने विधर्मिक संप्रदायों की उत्पत्ति में सहयोग दिया जो *वेदों* के सत्ता और ब्राह्मणवादी कर्म कांडो के प्रभाव में विश्वास नहीं करते थे।

रूढ़िवादी परम्परा के अनुसार ब्रह्मांड का उदय आदियुगीन बलि से हुआ था। बाद में *तपस* (सन्यास से प्राप्त शक्ति) ने सृष्टि सृजन के कार्य में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अन्य विधर्मिक उपदेशकों ने सृष्टि की प्राकृतिक और अनीश्वरवादी सिद्धांतों की रचना की। उनके अनुसार ब्रह्मांड की उत्पत्ति जल, अग्नि, वायु और आकाश द्वारा हुई। कुछ के लिए, ब्रह्मांड की उत्पति किसी भी देवता या किसी भी व्यक्तिगत इकाई के कारण नहीं अपितु भाग्य (*नियति*), समय (*काल*), प्रकृति (*स्वभाव*) या अवसर (*संगति*) के कारण हुई। यह माना जाने लगा कि संसार की उत्पत्ति किसी बाहरी ताकत की वजह से नहीं बल्कि आंतरिक विकास या 'परिपक्वता' (*परिणाम*) के कारण हुई थी। बुद्ध का मानना था कि प्रथम कारणों पर कोई भी विचार व्यर्थ थे। कुछ और लोग जो संशयवादी (Pyrrhonists) थे उन्होंने किसी भी खास ज्ञान की संभावना से इन्कार कर दिया। भौतिकवाद ने आत्मन् और अन्य सभी अभौतिक वस्तुओं के अस्तित्व को नकार दिया। कुछ परमाणु सिद्धांत में विश्वास करते थे। इस प्रकार

छठी शताब्दी बी.सी.ई. का बौद्धिक जीवन स्पंदनशील विचारों और मूल प्रश्नों से ओतप्रोत था।

इन चिंतनशील विचारों के अग्रणी लोग तपस्वी थे। बहरहाल इस काल के साहित्य में कुछ उत्सुक क्षत्रियों का भी उल्लेख है, उदाहरण के लिए, विदेह के जनक, कैकेय के अश्वपति, कोशल के हिरन्य-नाभा, काशी (वाराणसी) के अजातशत्रु, कुरू पांचाल के प्रवाहना जैवाली।

11.3 तपश्चर्या (वैराग्य) का आरंभ

'तपस्वी' शब्द का तात्पर्य एक ऐसे व्यक्ति से है, जिसने सांसारिक सुखों का त्याग कर दिया हो; समाज का त्याग कर स्वयं को समाज से दूर कर दिया हो। पहली शताब्दी बी.सी.ई. के मध्य, वह परम वास्वविकता को समझने के लिए संघर्ष कर रहे थे, सभी बंधनों से मुक्त हो परमानंद (*आनंद*) की खोज के लिए। वह तपस्या (*तपस*) और *ध्यान* का उपयोग अपने निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए करते थे।

तपश्चर्या कोई अनोखी वस्तु नहीं थी। *ऋग्वेद* में बाद की स्तुतियों में हमें ऐसे पवित्र पुरुषों के एक वर्ग के संदर्भ मिलते है जो ब्राह्मणों से अलग थे। उन्हें *मुनि* कहा जाता था। वे नग्न रहते, अनुष्ठानिक मौन बनाए रखते, और वे अर्ध-देवताओं और पक्षियों के साथ रहते थे। उन्होंने विशेष शक्तियां प्राप्त कर ली थीं जिन्होंने उन्हें साधारण मनुष्यों से अलग कर दिया था। वहीं *अथर्वेद* में *'वृत्य'* नामक पुरुषों की श्रेणी का उल्लेख है। इसका अर्थ उन आर्यों से था जो *वेदों* की पवित्रता में विश्वास नहीं करते थे। इन्हें हम गैर-वैदिक पंथ के एक पुजारी के रूप में भी मान सकते हैं। इस प्रकार कतिपय वैकल्पिक विचार, जो *वेदों* की शुद्धता पर आधारित नहीं थे, उत्तर वैदिक काल में उभरने लगे। उन्हें ब्राह्मणवादी व्यवस्था में सम्मिलित करने के सभी संभव प्रयास किये गए और इसने नए सिद्धांतों और प्रथाओं को आधार प्रदान किया।

उपनिषदों के समय तक तपस्वी होना आम हो गया था। उन्होंने नई शिक्षाओं और आध्यात्मिक सिद्धांतों को प्रस्तुत किया। पहली शताब्दी बी.सी.ई. के मध्य में, तपस्वी ने स्वमं को सभी से अलग कर एकांतवास अपनाया, या अन्य तपस्वियों के साथ एक समूह के रूप में सम्मिलित हो किसी गुरू या शिक्षक का अनुगमन किया। जो किसी एक संप्रदाय से जुड़े गये थे, उन्हें अपने आचरण और व्यवहार पर कुछ प्रतिबंधों का पालन करना पड़ता था। वे जाति के नियमों का पालन नहीं कर सकते थे, ब्रह्मचर्य अपनाते, संपत्ति अर्जित नहीं कर सकते थे, खाद्य-निषेध नियमों को तोड़ते थे, और उन्होंने विशिष्ट बाह्य प्रतीकों (अंगवस्त्रम, या नग्न अवस्था) को धारण किया। वैदिक साहित्य, *आरणयक* और *उपनिषदों* में वर्णित तपस्वी समूह अत्यधिक रूप से तपस्या को समर्पित थे।

तपस्वी, श्रमण, संन्यासी, परिव्राजक, योगी आदि कुछ शब्द हमें ग्रंथों में मिलते हैं। वे सब त्यागी थे, जिन्होंने सांसारिक सुखों का त्याग कर तपस्या का जीवन अपनाया। वे शरीर के क्रियाकलापों (मुख्य रूप से श्वास) को नियंत्रित करते और अंतिम सत्य की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान भटकते। *परिव्राजक* एक युवक थे, जो *ग्रहस्थ* जीवन में प्रवेश करने से पहले कुछ समय घुमक्कड़ जीवन व्यतीत करते किन्तु अधिकतर *परिव्राजक* स्थाई परित्याग की स्थिति में थे।

अधिकांश तपस्वी अकेले या किसी गुरू के मार्गदर्शन वाले समूहों में एक स्थान से दूसरे स्थान भटकते थे। वे *कौतुहल-शाला* (चर्चा के स्थल) में आयोजित दार्शनिक विषयों की चर्चाओं में भाग लेते। कुछ ब्राह्मण तपस्वी जंगलों में आश्रमों में रहते थे, जो कभी-कभार

अपने परिवारों के साथ ब्रह्मचर्य स्थिति में जीवन व्यतीत करते थे। वे अभ्रमणशील थे। उन्होंने यह दावा किया कि ध्यान और गंभीर तपस्या ने उन्हें जादुई शक्ति से सन्निहित कर दिया था। उन्होंने गुप्त शक्तियों को प्राप्त किया। जो पहाड़ों को धूल की तरह उखाड़ सकती थी, नदियों को सुखा सकती थी, नाराज होने पर विरोधियों को जलाकर राख कर सकती थी, नगर की रक्षा, और संपत्ति में वृद्धि आदि बहुत कुछ कर सकती थी। बलि और यज्ञ से प्राप्त होने वाली शक्ति को अब तपस्या और ध्यान (योग) को हस्तांतरित किया गया था।

जिन्होंने तपश्चर्या को अपनाया उन्होंने देर-सवेर प्रकृति की वास्तविकता में अंतर्दृष्टि प्राप्त की। उन्होंने ब्रह्मांड के रहस्य को समझा, ब्रह्मांड की प्रकृति और जीवन और मौत से परे परमानन्द पाया। इसके साथ उनको परम-मुक्ति का एहसास भी हो रहा था। मोक्ष को प्राप्त करने वाला ''विजेताओं का विजेता'' हो गया। सभी संप्रदायों ने इस अनुभव को प्राप्त करने की कोशिश की किन्तु उनकी व्याख्याएँ अलग-अलग थीं। तपश्चर्या और रहस्यवाद का विकास जल्द ही ब्राह्मणों के लिए एक चुनौती बन गया। वे शीघ्रता से इस तत्व को अपनी विचारधारा में सम्मिलित करना चाहते थे। जीवन में चार चरणों के आश्रम सिद्धांत को पहली बार *धर्मसूत्र* में प्रतिपादित किया गया। *आश्रम* सिद्धांत में जीवन-चक्र में चार चरणों के लिए प्रयुक्त शब्द थे, *ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ* और *संन्यास*। *संन्यास* चौथा और अंतिम चरण था। सामाजिक दायित्वों के निर्वाह के बाद ही एक व्यक्ति सन्यासी बन सकता था। व्यक्ति द्वारा *गृहस्थ* जीवन के सामाजिक दायित्वों को पूरा करने के बाद ही उसे इस प्रणाली की चौथी श्रेणी को चुनने का अवसर मिलता था। यह सुनिश्चित करने के लिए इस बात पर बल इसलिए दिया गया था कि सामाजिक असंतोष न बढ़े। बौद्ध और जैन धर्म में गृहस्थ चरण का त्याग कर कोई व्यक्ति बिना गृह दायित्व की भूमिका निभाये भी तपस्वी बन सकता था। यही कारण है कि उनके सिद्धांत अन्य स्थापित सामाजिक व्यवस्थाओं को चुनौती दे रहे थे। जिन मनीशियों ने परंपरागत मार्ग का अनुसरण किया, उनकी चर्चाओं और शिक्षाओं को *आरण्यको* और *उपनिषदों* में सम्मिलित किया गया। इस प्रकार हम पाते है कि *योग* परम्परा जो पारंपरिक रूढ़िवादी हिंदू प्रणाली का हिस्सा थी, इस समय तक विकसित हो चुकी थी।

11.4 उपनिषदों का चिंतन

उपनिषद आत्मन्, परम यथार्थ (*ब्रह्मन्*), *कर्म, योग, संसार* (सांसारिक अस्तित्व), *मोक्ष* (ज्ञानोदय), *पुरुष* (मनुष्य) और *प्रकृति* के बारे में प्रमुख दार्शनिक सिद्धांतों के प्रारंभिक दर्ज प्रवचन हैं। प्रमुख उपनिषदों को आठवीं से छठी शताब्दी बी.सी.ई. के बीच की अवधि में लिपिबद्ध किया गया। ये वेदों के दार्शनिक विचारों से उत्तर वैदिक काल में उभरी नई विचारधाराओं के विकास के संक्रमण का प्रतिनिधित्व करती हैं।

'उपनिषद', शब्द तीन भागों से बना है : उप+नी+षद्, जिसका अर्थ है कि यह उस छात्र को प्रदान किया उपदेश था जो 'एक शिक्षक के निकट बैठा है'। इसका अर्थ 'रहस्य' भी है, यह दर्शाता है कि यह एक गुप्त सिद्धांत था जिसका ज्ञान इस प्रकार के उपदेश पाने योग्य केवल कुछ लोगों को ही दिया जाना चाहिए था।

उपनिषदों ने एक बदलाव का प्रतिनिधित्व किया कि कैसे ज्ञान की तलाश की जा रही थी। वेदों के अंतर्ज्ञान की स्वीकृति से इस संभावना की ओर बदलाव था कि ज्ञान को प्रेरणा, अवलोकन और विश्लेषण के माध्यम से भी प्राप्त किया जा सकता था। इससे पहले वैदिक बलि के दौरान, *यजमान* एक बाह्मण पुजारी की मध्यस्थता से ही बलि का आरम्भ कर

सकता था। *उपनिषद* इसके विपरीत, किसी पुजारी की मध्यस्थता या किसी भी बिचौलियों की उपस्थिति के बिना आत्मन् की परम मुक्ति के लिए एक खोज थी। *उपनिषद* धर्म ने वैदिक देवताओं की भूमिका को कमतर देखा और इनका उद्देश्य भगवान इंद्र के साथ स्वर्ग के सुखों की प्राप्ति नहीं था बल्कि सभी बंधन से मुक्ति यानी *मोक्ष* था। यह महसूस किया जाने लगा कि केवल वैदिक कर्मकांड से किसी को *ब्रह्मन्* की प्राप्ति नहीं हो सकती।

परम वास्तविकता और इसे प्राप्त किये जाने हेतु नए विचारों से सन्निहित वैकल्पिक विश्वास प्रणाली विकसित की गयीं। प्रसन्नता को बढ़ावा देने में यज्ञ की प्रभावकारिता के बारे में संदेह उठने लगे। अब विवादास्पद प्रश्न थे : वास्तविकता क्या है? मृत्यु और अमरता के प्रश्न किस प्रकार स्वत्व (Self), पुनर्जन्म और प्रतिफल की धारणाओं से बंधे हुए हैं? मोक्ष कैसे प्राप्त किया जा सकता है? अनुभूति की नई तकनीकियों की धारणा जिसमें *ध्यान* और *योग* सम्मिलित हैं, के विकास के पीछे महत्वपूर्ण सोच थी। इस प्रेरक जीवन को प्राप्त करने का प्राकृतिक तरीका था तपश्चर्या (*तपस*)। हालांकि त्याग के कुछ रूप वैदिक बलि परम्परा में भी उपस्थित थे। उदाहरण के लिए, फल या पशु के रूप में यजमान द्वारा यज्ञ में दी जाने वाली भेंट को व्यक्ति द्वारा त्याग के समान समझा गया। यद्यपि इसका उद्देश्य इंद्र के स्वर्ग-सुख की प्राप्ति था, किन्तु अब, उसका उद्देश्य निर्गमन या मुक्ति, मोक्ष में बदल गया।

यहाँ हम नीचे *उपनिषद* की मुख्य विशेषताओं पर चर्चा करेंगे।

11.4.1 *आत्मन्-ब्रह्मन्*

उपनिषद दो अवधारणाओं के बारे में हैं – *आत्मन्,* और *ब्रह्मन*। ये दोनों ही भारतीय दर्शन की आधारशिला बन गए हैं। *ब्रह्मन्* को सार्वभौमिक आत्मन् के रूप में कल्पित किया गया। *आत्मन्* व्यक्तिगत आत्मा है। *आत्मन्* एक सार है जो प्रत्येक व्यक्ति में व्याप्त है। यह जीवन शक्ति, चेतना या परम सत्य है। *छान्दोग्य उपनिषद* में ब्राह्मण उद्दालका अरूणि द्वारा निर्देश के रूप में अपने पुत्र श्वेतकेतु को दी गयी शिक्षा *आत्मन्* के सम्बन्ध में सबसे उल्लेखनीय है। उद्दालका अपने विवरण के आरम्भ में कहते है कि भौतिक सामग्री की सार्वभौमिकता के बारे में कोई व्यक्ति उसी सामग्री से निर्मित किसी विशेष वस्तु से पता लगा सकता है। उदाहरण के लिए, मिट्टी से बनी किसी वस्तु के माध्यम से, कोई मिट्टी का पता कर सकता है, तांबे के बने आभूषण के माध्यम से, कोई तांबे का पता कर सकता है। इन उदाहरणों द्वारा वह दर्शाते हैं कि पदार्थ का निर्माण शून्य (कुछ भी नहीं) से नहीं किया जा सकता। बल्कि निर्माण एक प्रक्रिया है जो एक मौलिक अस्तित्व (सत्) के माध्यम से आकारों की बहुलता में रूपांतरित हो जाता है। इस तरह के आकार हमारे रोजमर्रा के अनुभवों की विशेषता हैं। जैसे मधुमखियाँ विभिन्न स्रोतों से पराग एकत्र करती हैं, लेकिन यह एक साथ इकठ्ठा होते हुए यह एक अविभेदित ढेर बन जाता है; विभिन्न नदियाँ समुद्र में गिरने के बाद समुद्र से ही मिल जाती हैं इसी प्रकार *आत्मन्* प्रत्येक मनुष्य में व्यक्तिगत रूप से रहता है किन्तु *ब्रह्मन्* में विलीन होकर उसके साथ एक हो जाती है। इसके उपरांत उद्दालका अपने बेटे को एक गिलास पानी में नमक डालने के लिए कहता है। श्वेतकेतु वैसा करता है। किन्तु जब उसके पिता द्वारा नमक वापिस लाने के लिए कहा गया तो श्वेतकेतु नहीं कर सका क्योंकि नमक पानी में घुल गया। फिर आरूणि अपने बेटे से पानी का स्वाद पूछते हैं। पानी के नमकीन पाए जाने पर, आरूणि परम वास्तविकता पर श्वेतकेतु को उपदेश देते हैं। वे कहते हैं, '*मेरे पुत्र तुम यह नहीं मानते कि एक वास्तविकता (सत) तुम्हारे शरीर में मौजूद है, लेकिन यह वास्तव में वहीं है। सब कुछ जो अपने सूक्ष्म सार में हो रहा है यही वास्तविकता है! यही आत्मन् है ! और यह तुम हो, श्वेतकेतु*!'' (बैशम, ए.एल. से उद्धत (2004), पृ. 253)

उपनिषद स्वत्व और *ब्रह्मन्* के कठिन अर्थ को व्यक्त करने के लिए समृद्ध कल्पना का प्रयोग करते हैं। नीचे *आत्मन्* के अर्थ पर उद्दालका अरूणि और उसके बेटे श्वेतकेतु के बीच एक छोटी सी बातचीत है :

– *''बरगद के पेड़ का एक फल लाओ''।*
– *''यहां एक है, श्रीमान''।*
– *''इसे तोड़ो''।*
– *''मैंने इसे तोड़ा दिया, श्रीमान''।*
– *''आपने क्या देखा''?*
– *''बहुत छोटे बीच, श्रीमान''।*
– *''एक बीज तोड़ो''।*
– *''मैंने इसे तोड़ा, श्रीमान''।*
– *''अब क्या देख रहे हो''?*
– *''कुछ नहीं, श्रीमान''।*

''मेरे पुत्र, ''पिता ने कहा, ''जो तुम नहीं समझ पाए वह सारतत्व है, और उस सारतत्व में ताकतवर बरगद का वृक्ष मौजूद है। मेरा विश्वास करो, मेरे पुत्र, उस सारतत्व में सभी का *स्वत्व* है। जो सत्य है, वह *स्वत्व* है, और तुम वह *स्वत्व* हो, श्वेतकेतु''।

(*छन्दोग्य उपनिषद,* VI, 13, बैशम, ए. एल. से उद्धृत (2004), पृ. 252-3)

''ततत्वमअसि'', आप (व्यक्तिगत) वह (सार्वभौमिक सार) हैं, उपनिषदों का प्रमुख विषय है।

सर्श्व सर्जन के सम्बन्ध में उद्दालका की व्याख्या ने *सत्कार्यवाद* सिद्धांत को प्रभावित किया है – कि परिणाम कारण के भीतर मौजूद है। इसे *सांख्य, योग* और *वेदांत दर्शन* ने स्वीकार किया था। स्वत्व के बारे में उद्दालका की धारणाएं पूर्व वैदिक ग्रंथों की धारणाओं से अलग थीं जहां महत्व मानव शरीर या व्यक्तिगत व्यक्ति पर नहीं बल्कि आदिकालीन या आदर्श निकाय पर दिया गया।

(ब्लैक, ब्रायन, ''उपनिषद'', *इंटरनेट इनसायक्लोपीडिया ऑफ फिलोसफी*)

उपनिषदों का मानना था कि *आत्मन्* का ज्ञान मुक्ति या परम स्वतंत्रता की ओर ले जाता है। यह मुक्ति मृत्यु से मुक्ति है। *उपनिषदों* में याज्ञव्लक्य की शिक्षाओं के अनुसार *आत्मन्* शरीर के भीतर निवास करती है; इस *आत्मन्* के कारण शरीर जीवित है; जब मृत्यु आती है तो *आत्मन्* नहीं मरती अपितु दूसरे शरीर में एक नया स्थान बना लेती है।

वेदों के समापन भाग में ऋषियों ने एक सर्जनकृर्ता या सृष्टि के नियंत्रक की संकल्पना की थी। वे इसे प्रजापति, विश्वकर्मा, पुरुष, *ब्रह्मांणस्पति, ब्रह्मन्* कहते थे। इस स्तर पर वह एक देवता ही थे। इस देवता के स्वरूप की खोज *उपनिषदों* में शुरू होती है। *उपनिषद* सिद्धांत के तत्व और योग का प्रतिनिधित्व आत्मन्=ब्रह्मन् के सूत्र द्वारा होता है। *ब्रह्मन्* का अर्थ है ब्रह्मांड का परम सार। *ब्रह्मन्* की स्थिति स्वप्नरहित नींद की स्थिति के समान है। *आत्मन्* न केवल मनुष्य में व्याप्त है, अपितु सब जगह मौजूद है – सूरज, चांद, संसार। *आत्मन् ब्रह्मन्* है।

जैसे लोहे के पिंड से ही लौहे से बनी वस्तुओं का ज्ञान होता है इसी प्रकार *आत्मन्* से *ब्रह्मन्* को जाना जाता है, अन्य सब का ज्ञान होता है। मनुष्य का सार और ब्रह्मांड का सार एक

है और समान भी है और यही *ब्रह्मन्* है। यह ब्रह्मांड में सबसे सक्रिय सिद्धांत है और अभी तक सबसे निष्क्रिय और अचल भी। इस प्रकार *मुण्डकोपनिशद्* में कहा गया है :

जैसे एक मकड़ी उगलती है और बुनती है (धागे),
जैसे पौधों के अंकुर पृथ्वी से फूटते हैं,
जैसे जीवित आदमी के सिर और शरीर पर बाल,
उसी प्रकार अविनाशी से यहाँ सब है।
जैसे आग जलाने से चिंगारी निकलती है,
प्रकृति में इसके सदृश, वसंत हजारों बार फूटता है,
तो, प्रियवर, अविनाशी से
कई प्रकार के जीवित प्राणी आगे आते हैं,
और फिर पुनः उसमें लौटते हैं।
(दासगुप्ता, सुरेंद्रनाथ, 2004, 49-50 में उद्धृत)

सार्वभौमिक सार को कभी-कभार विशुद्ध रूप से नकारात्मक शब्दों में परिभाषित किया जाता है। ''स्वत्न को केवल यह नहीं, यह नहीं'' के रूप में वर्णित किया जा सकता है। यह 'अबोधगम्य ....., अविनाशी, ..., असंलग्न ....., वंधन मुक्त है .... यह पीड़ित नहीं होता ..... यह विफल नहीं होता।''

11.4.2 *स्थानांतरणगमन* (Transmigration) का सिद्धांत

स्थानांतरणगमन के विचार का आरम्भ *ऋग्वेद* के अंतिम भागों में हुआ है। यद्यपि *उपनिषदों* में यह सबसे उन्नत रूप में प्रस्तुत किया गया है। *बृहदारण्यक उपनिषद* में पहली बार एक विकसित रूप में यह सिद्धांत आया। यह सिद्धांत *उपनिषदों* में दो चरणों में विकसित हुआ। एक, *स्थानांतरण गमन* (Transmigration) के विचार का संयोजन परलोक में प्रतिफल के वैदिक विचार से किया गया, और दूसरे में परलोक में प्रतिफल के विचार का अतिक्रमण हेतु *स्थानांतरण गमन* (Transmigration) के विचार का आगमन हुआ। इस प्रकार यह कहा जाता है कि जो लोग धर्मपरायणता और अच्छे कर्म करते हैं वे मृत्यु के बाद पिता (*पित्रयान*) की तरह यात्रा करते हैं। उनकी आत्मन् सबसे पहले धुएँ में प्रवेश करती है, फिर रात में, महीने के कृष्णपक्ष में, इत्यादि, और अंत में वह चांद पर पहुंचती हैः जिस समय तक उसके अच्छे कर्मों का प्रभाव रहता है वहाँ निवास के बाद वह फिर से आकाश, हवा, धुआं, धुंध, बादल, बारिश, जड़ी बूटी, भोजन और बीज के माध्यम से उतरती है, और मनुष्य द्वारा भोजन के आत्मसात के माध्यम से वह मां के गर्भ में प्रवेश करती है और फिर से जन्म लेता है। यहां हम देखते हैं कि आत्मन् चांद की दुनिया में प्रतिफलों का आनंद लेती है, लेकिन फिर से इस दुनिया में पुनर्जन्म लेती है। दूसरा रास्ता देवों (*देवयान*) का रास्ता है, जो आस्था ओर तपश्चर्या (तपस) का रास्ता अपनाने वालों के लिए होता है। मृत्यु के बाद आत्मन् क्रमिक रूप से लौ, 'दिन में, महीने के शुक्ल पक्ष में, वर्ष के आधे उज्ज्वल भाग में, सूर्य, चंद्रमा, बिजली, और फिर अंत में कभी नहीं लौटने के लिए ब्रह्म में प्रवेश करती है। डयूसन का कहना है कि सम्पूर्ण का अर्थ यह है कि आत्मन् देवताओं के रास्ते पर बढ़ते हुए प्रकाशपुंज के क्षेत्रों में पहुंचती है, जिसमें सब केन्द्रित हैं जो कि उज्ज्वल और दीप्तिमान स्थिति में हैं और रास्ते के पड़ावों से प्रकाशों के प्रकाश *ब्रह्मन्* के मार्ग पर जाती है। (दासगुप्ता में उद्धत, सुरेंद्रनाथ, 2004, पृ. 54)।

स्थानांतरणगमन (Transmigration) के सिद्धांत के दूसरे भाग में अच्छे कर्मों या बुरे का उल्लेख नहीं है या *देवयान* या *पित्रयान* का उल्लेख नहीं है इस विचार में स्वत्व स्वयं शरीर

कमज़ोर हो जाने पर इसको नष्ट कर देता है। जब यह वर्तमान के अंत तक पहुंचता है तब अपने कर्मों द्वारा एक नया और उत्तम ढांचा बनाता है। मृत्यु के समय, स्वत्व अपने भीतर ही सभी इंद्रियों और संकायों को एकत्र करता है और मृत्यु के बाद उसके सभी पिछले ज्ञान, काम और अनुभव उसके साथ जाते हैं। मौत के समय शरीर का नाश एक नए शरीर के निर्माण के लिए होता है या तो इस लोक में या अन्य लोकों में। स्वत्व जो इस प्रकार पुनर्जन्म लेता है, विविध श्रेणियों का समुच्चय माना जाता है। इन सब का मूल स्वत्व की इच्छा और इसके फलस्वरूप फल की कामना है जिसका माध्यम हैं दृढ़ शक्ति एवम् कार्य। स्वत्व लगातार इच्छा और कार्य जारी रखता है, उसका फल पाता है और इसके फलस्वरूप वह कार्य करते हेतु पुनः इस संसार में आता है। पुनर्जन्म के सभी मार्ग स्वयं स्वत्व द्वारा और उसकी अपनी इच्छाओं के द्वारा ही प्रभावित हैं और यदि यह इच्छा की समाप्ति करता है, तो यह पुनर्जन्म से पीड़ित नहीं होता और अमर हो जाता है। इस सिद्धांत की सबसे विशिष्ट विशेषता यह है कि यह कर्म को नहीं अपितु इच्छा को पुनर्जन्म के कारण के रूप में संदर्भित करता है। कर्म ही इच्छाओं और पुनर्जन्म को जोड़ने की कड़ी के रूप में आता है – यह कहा जाता है कि एक आदमी जो कुछ इच्छा करेगा उसके लिए वह इच्छाशक्ति करेगा और जो कुछ वह इच्छाशक्ति करेगा, उसके लिए कार्य करेगा। (दासगुप्ता, सुरेंद्रनाथ, 2004, पृ. 55-56)।

स्थानांतरणगमन (Transmigration) के सिद्धांत की किसी भी तरीके से व्याख्या की जाएं, इसने जीवन के रूपों को एक ही प्रणाली द्वारा जोड़ा। यहां तक कि देवताओं को भी पुनर्जन्म से गुज़रना पड़ा। जैसे ही एक इन्द्र की मृत्यु हुई, दूसरे का जन्म हुआ। यही नियम पशुओं, कीट-पंतगों और पौधों पर लागू होता है।

कर्म इसका एक निकटतम सिद्धांत है। मनुष्य के पिछले जन्म के कार्य इस दुनिया में उसके जन्म का निर्धारण करते हैं। बुरे *कर्मों* से निम्न स्तर पर जन्म होता है और जीवन में अच्छे कर्मों से, तपश्चर्या से उच्चतम जन्म होता है। यह सिद्धांत सभी भारतीय विचारों की आधारशिला बन गया। अब, दुख को आसानी से कर्मों के परिणाम के रूप में समझाया जा सकता था। इसी प्रकार सामाजिक असमानताओं को भी न्यायोचित ठहराया जा सकता था। कई लोगों के लिए कर्मों के परिणाम का सिद्धांत अगले जन्म में एक बेहतर जीवन की सम्भावना दर्शाता है। भय और तनाव की स्थिति में यह एक विश्वास देता है। यद्यपि दूसरों के लिए मौत हमेशा भयानक थी। जन्म और मृत्यु के चक्र से बचने के लिए किसी मार्ग की आवश्यकता महसूस की गयी। चाहे पर्याप्त था या नही, जीवन के प्रति निराशावादी दृष्टिकोण को तपश्चर्या और ध्यान के रूप में इसका उत्तर मिला।

11.4.3 मुक्ति का सिद्धांत

मुक्ति का विचार *उपनिषदों* में और विकसित हुआ। हम पहले से ही उन दो मार्गों को जानते हैं जिनके द्वारा मृत्यु के बाद आत्मन् यात्रा करती है। *पित्रयान कर्म* फल का आनंद आत्मन् को प्रदान करता है किन्तु आत्मन् फिर से पुनर्जन्म लेती है। *देवयान* में श्रद्धा और तपश्चर्या का मार्ग जो अपनाते हैं, वे देवताओं के मार्ग पर जाते हैं, वे पुनर्जन्म की पीड़ा से मुक्ति प्राप्त कर वापिस नहीं लौटते। *मुक्ति* अनंतता की एक स्थिति है जब मनुष्य स्वयं को जानता है और इस तरह *ब्रह्मन्* को प्राप्त कर लेता है। अज्ञानी के लिए पुनर्जन्म ही एकमात्र विकल्प है, जिसकी कोई इच्छा नहीं है, और स्वयं को सभी लालसाओं से अभिमुक्त कर देता है वह *ब्रह्मन्* के साथ एकसार हो जाता है।

बोध प्रश्न 1

1) छठी शताब्दी बी.सी.ई. के समाज और धर्म की कौन सी विशेषतायें थी जिनसे तपश्चर्या का जन्म हुआ?

.....

.....

.....

.....

.....

2) उपनिषदों के *आत्मन्-ब्रह्मन्* के सिद्धांत की 100 शब्दों में चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

11.5 *शड्दर्शन* या दर्शन की छह प्रणालियाँ

हिन्दू दर्शन प्रणाली दार्शनिक विचारों को दो भागों में विभाजित करती है : *नास्तिक* और *आस्तिक*। *नास्तिक* का शाब्दिक अर्थ है ना *अस्ति* (ऐसा नहीं है)। वे वेदों को सर्वोच्चज्ञान के रूप में नहीं देखते और न ही अपनी वैधता उन पर स्थापित करने की कोशिश करते हैं। प्रमुखता संख्या में वे तीन हैं : बौद्ध, जैन और चार्वाक। आस्तिक – मत या रूढ़िवादी – मत संख्या में छह हैं। इनमें *सांख्य, योग, वेदांत, मीमांसा, न्याय* और *वैशेषिक* हैं। इन्हें *दर्शनशास्त्र या शडदर्शन* की छह प्रणालियां भी कहा जाता है। इनके मूल और उद्देश्य अलग हैं किन्तु बाद में इन्हें मोक्ष का समान रूप से वैध तरीका मान लिया गया। उन्हें दो के तीन समूहों में बांटा गया, जिन्हें एक दूसरे से संबंधित और पूरक समझा गया था। ये थे : *न्याय* और *वैशषिक, सांख्य* और *योग* और *मीमांसा* और *वेदांत*। विचारों की इन सब प्रणालियों की मुख्य विशेषताओं की स्पष्ट व्याख्या प्रोफेसर ए. एल. बैशम (2004) द्वारा की गयी है, जिन्हें नीचे संक्षेप में दिया गया है।

न्याय

न्याय का अर्थ है विश्लेषण। यह *धर्मशास्त्र* के बजाय तर्क और ज्ञान मीमांसा का मत है। इसके प्रवर्तक अक्सपाद गौतम थे। इसके *सूत्र* ईसाई युग में दिनांकित हैं। इसमें विश्वास किया गया है कि स्पष्ट विचार और तार्किक तर्क-वितर्क परम् आनंद प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। यह वास्तव में तर्क की एक प्रणाली है जिसे धार्मिक आधार दिया गया।

वैशेषिक

यह व्यक्तिगत विशेषताओं का मत था। यह मत न्याय से पूर्व का है, किन्तु इसका पूरक भी है। मध्यकाल में दोनों एक मत में विलीन हो गये। *वैशेषिक सूत्र* भौतिकी और मीमासा के साथ संलग्न है। संस्थापक जो आरम्भिक सूत्रों के लिए उत्तरदायी था, उलूक कणाद है। इसकी बौद्ध तथा जैन मतों से कुछ समानताएं हैं। उनका मानना है कि प्रकृति आणविक

है। अणु आत्मन् के साधन हैं। आत्मन् अणुओं से अलग है। मोक्ष ब्रह्मांड की आणविक प्रकृति और आत्मन् से उसके अंतर को साकार करने पर निर्भर करता है। *वैशेषिक* के बुनियादी सिद्धांत इस तरह से हैं : प्रत्येक तत्व की व्यक्तिगत विशेषताएँ हैं जिन्हें '*विशेष* कहा जाता है। इन्हें चार गैर आणविक विशेषताओं से अलग प्रतिष्ठित किया जिन्हें द्रव्य (समय, स्थान, आत्मन् और मन) कहा गया। अणु शाश्वत हैं, लेकिन महान विघटन के अंत में *ब्रह्मन्* की मृत्यु के साथ अणु एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं। नया *ब्रह्मन्* पुराने अणुओं के उपयोग से एक नई दुनिया को आकार देता है। इस प्रकार *वैशेषिक* तत्व और आत्मन् के द्वैतवाद में विश्वास करता है।

सांख्य

सांख्य का अर्थ है गणना। यह छह प्रणालियों के सबसे पुराना मत है और *उपनिषदों* में प्रारंभिक रूप में मिलता है। प्राचीन ऋषि कपिल इसके संस्थापक थे। गहन द्वैतवाद और मौलिक नास्तिकता के सम्बन्ध में इसमें जैन धर्म के साथ बहुत कुछ साझा किया। उन्होंने ब्रह्मांड के विकास का उल्लेखनीय सिद्धांत सरल शब्दों में प्रतिपादित किया। ये सिद्धांत इस प्रकार है : पच्चीस बुनियादी सिद्धांत (*तत्व*) हैं जिनमें पहली *प्रकृति* है और अंतिम *पुरुष* है। सृष्टि या उद्भव किसी भी देवत्व के कारण नहीं हुआ बल्कि *प्रकृति* के अंतर्निहित विशेषता के कारण हुआ है। *पुरुष* 'व्यक्ति' है या आत्मन्। *पुरुष प्रकृति* पर आश्रित नहीं है और ऐसे ही *प्रकृति* भी। ब्रह्मांड *आत्मन्* से रहित है, और उसका उद्भव अभी जारी है। आत्मन् तत्व के साथ सम्मिलित हो जाती है, और उसके अपने अंतर को अनुभव करने पर मोक्ष निर्भर है। *सांख्य* मीमांसा की बहुत ही महत्वपूर्ण विशेषता तीन घटक गुण सिद्धांत है, जिससे सदाचार (*सत्त्व*), लगन (*रजस*), और नीरसता (*तमस*) उत्पन्न होती है। जब लौकिक ब्रह्मांड एक अविकसित अवस्था में होता है, तो तीन घटक गुण संतुलन में होते हैं। संसार के उद्भव में एक या दूसरा गुण अन्य पदार्थों या प्राणियों पर प्रभुत्व स्थापित करता है और गुणों का अनुपात ब्रह्मांड के मूल्यों का कारण होता है। बाद में इस तिहरे वर्गीकरण का भारतीय जीवन और विचार पर गहरा प्रभाव पड़ा।

योग

इसे 'आध्यात्मिक अनुशासन' या 'प्रयोग' के रूप में अनुवादित किया गया है। इसमें सभी प्रकार के धार्मिक अभ्यास और भारतीय धर्मों में मौजूद आत्म निग्रह के कृत्य शामिल है। इसको मानने वाले अनुयायी को *योगी* कहा जाता है। हालांकि *योग* विचार के प्रत्येक मत का हिस्सा था, परन्तु यह एक अलग प्रणाली है जिसमें मानसिक प्रशिक्षण मोक्ष का प्रमुख माध्यम है। पंतजलि की *योगसूत्र* इसका मूल ग्रंथ है। पंतजलि एक प्रसिद्ध व्याकरणविद हैं जो दूसरी शताब्दी बी.सी.ई. में हुए थे। सांख्य मत के साथ योग आधिभौतिक विचारों को साझा करता है लेकिन यह इस में भिन्न है कि वह परमात्मा को स्वीकार करता है। योग मत के लिए ईश्वर एक महान सत्ता हैं जो 'ओम' के पवित्र शब्दांश में उपस्थित हैं। जो ध्यान में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है और आत्मन् की उदात्त शुद्धता में अंतर्दृष्टि प्रदान करता है। इस प्रशिक्षण के पाठ्यक्रम को आठ चरणों में बांटा गया है :

1) आत्म-सयंम (*यम*)
2) अनुपालन (*नियम*)
3) शरीर-मुद्रा (*आसन*)
4) श्वास का नियंत्रण (*प्राणायम*)
5) निग्रह (*प्रत्याहार*)

6) मन की स्थिरता (*धारणा*)

7) ध्यान (*ध्यान*)

8) गहन-ध्यान (*समाधि*)

आध्यात्मिक शक्ति और मोक्ष प्राप्त करने की विधि योगिक अभ्यास के माध्यम से सम्भव है जिसका उद्देश्य *कुंडलिनी* जागृत करना है। यह कैसे होता है : शरीर की मुख्य नाड़ी को *सुसुमना* कहा जाता है। यह मेरुदड के साथ-साथ होती है। इसके पथ के साथ छह चक्र या आध्यात्मिक ऊर्जा का संकेद्रण होते हैं। इस नाड़ी के शीर्ष पर, मस्तक (कपाल) के अंदर *सहस्रार* है जिसे कमल भी कहते हैं, जो एक अति शक्तिशाली मानसिक केंद्र है। इस क्रम में सबसे नीचे जननांगों के पीछे *कुंडलिनी* नामक *चक्र* होता है 'सर्प शक्ति', यह सुप्त स्थिति में रहती है। योग शक्तियों द्वारा *कुंडलिनी* जागृत होती है और *सुसुमना* नाड़ी तक उठती है, मानसिक शक्ति के छहों 'चक्रों' से गुज़रती है और सर्वोच्च *सहस्रार* के साथ एकसार हो जाती है। ऐसा होने पर *मोक्ष* प्राप्त हो जाता है।

मीमांसा

यह प्रतिपादन या व्याख्या का एक मत है। इसके आरम्भिक रचना जैमिनी (दूसरी शताब्दी बी.सी.ई.) के *सूत्र* हैं। वे वेदों को शाश्वत, आत्म आस्तित्वपूर्ण और पूर्णतः प्रामाणिक के रूप में समझते हैं। इससे तर्क, अर्थ-विज्ञान और द्वंद्ववाद का विकास इस मत में हुआ। इसने सातवीं ओर आठवीं शताब्दियों में मोक्ष का पूर्ण दर्शन विकसित किया। उनके अनुसार *वेद* और उनके नियमों का पालन और सम्मान मोक्ष के लिए पहला आवश्यक कदम है। बाद में इस मत का *वेदांत* के साथ विलय हुआ।

वेदांत

वस्तुतः इसका अर्थ *वेदों* का अंत है। इसे *उत्तर मीमांसा* भी कहा जाता है। *वेदांत* के सिद्धांत *उपनिषदों* और *बदरायण* के *ब्रह्म सूत्र* पर आधारित हैं। शास्त्रीय *वेदांत* महान दार्शनिक शंकर (788-820) द्वारा प्रतिपादित है जिन्होंने *ब्रह्म सूत्र* और *उपनिषदों* पर विस्तृत टिप्पणियां की। शंकर के सिद्धांत को प्रायः अद्वैत भी कहा जाता है [किसी अन्य को अनुमति नहीं देना', यानि एकत्ववाद या केवलाद्वैत (कठोर एकत्ववाद)]। वे 'सत्य के दोहरे मानक' के विचार में विश्वास करते थे। इसके अनुसार, सत्य के दैनिक स्तर पर, ब्रह्मा द्वारा विश्व का निर्माण किया जाता है। यह उद्भव की विकासवादी प्रक्रिया से गुज़रता है। जो सांख्य मत में भी उपस्थित है, जिससे उसने तीन गुण का सिद्धांत लिया। किन्तु सत्य के सर्वोच्च स्तर पर, देवताओं सहित पूरा ब्रह्मांड, माया *है*, भ्रम है। अंततः एकमात्र यथार्थ *ब्रह्मन्* ही है, *उपनिषदों* की परम *आत्मन्* जिसके साथ वैयक्तिक *आत्मन्* समरूप है। ध्यान के द्वारा जब दोनों में समरूपता स्थापित होती है तब मोक्ष प्राप्त होता है।

11.6 नास्तिक विचारों के मत

उपनिषदों के सिद्धांत रूढ़िवादी परंपरा का हिस्सा था। किन्तु कुछ ऐसे भी लोग थे जो ब्राह्मणवादी धार्मिक विचारों पर विश्वास नहीं करते थे और उन्होंने तत्वमीमांसा और दर्शन के अपने सिद्धांत प्रतिपादित किये। आइए हम इन विधर्मिक संप्रदायों पर चर्चा करें, जो नास्तिक विचारों का मत बनाते हैं।

11.6.1 बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म की स्थापना छठी शताब्दी बी.सी.ई. में बुद्ध ('प्रबुद्ध' या 'जाग्रत') द्वारा की गई थी। गौतम की कथा तथा उनकी प्रबुद्धता के प्रति आकांक्षा और उनकी शिक्षाओं का वर्णन इकाई 12 में किया जाएगा। यहां हम बौद्ध विचार के अभौतिक और मनोवैज्ञानिक आधार पर चर्चा करेंगे।

पाली धर्मसिद्धान्तों को परख कर उसे तीन परिषदों राजगृह, वैशाली, और पाटलिपुत्र में संहिताबद्ध किया गया। श्रीलंका में राजा वत्तागमानी (89-77 बी.सी.ई.) के शासनकाल के दौरान यह लिखा गया। पिटक और उसकी समीक्षाएं, अर्ध धर्मवैधानिक कार्य, साहित्य का एक बड़ा हिस्सा बनाती हैं, पद्य (कविता) इतिवृत रूप जिसने बौद्ध नैतिकता और दर्शन के बारे में पर्याप्त धारणाएं प्रस्तुत की। इस मत की बुनियादी धारणाएं इस प्रकार हैं : जीवन में *दुःख* (पीड़ा) निहित है। इसकी समाप्ति 'प्यास' (अक्सर *तनहा, तृष्णा* के रूप में अनुवादित) को त्याग कर की जा सकती है। जिसमें व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा, इच्छा, लालसा और सभी प्रकार के स्वार्थ शामिल हैं। तृष्णा को रोका जा सकता है। आसक्ति और तपश्चर्या के चरम को छोड़कर मध्य का मार्ग जो अपनाता है और नैतिक और अच्छे जीवन की ओर अग्रसर करता है वह तृष्णा को रोक सकता है। इन शिक्षाओं के लिए केंद्रीय सिद्धांत है 'निर्भर व्युत्पति की श्रृंखला' (**पटिच्चयमुप्पाद**)। यह बारह शब्द या स्थितियां है जो एक के बाद एक में अग्रसर होती है और अंत में दुःख और पीड़ा की समाप्ति होती है। इस सिद्धांत का केंद्र है – दुःख या दर्द जो अज्ञान के कारण है – यह एक प्रकार की लौकिक अज्ञानता है जो आत्मसमर्पण के भ्रम की ओर जाती है। यह अज्ञान ब्रह्मांड की मौलिकता का एक पहलू है जो इस प्रकार हैः यह शोक (दुःख) से भरा है; यह क्षणिक (*अनिच्चय*) है; और यह भावशून्य (*अनत्ता*) है।

ब्रह्मांड क्षणिक है। प्रत्येक व्यक्ति या वस्तु क्षणिक है। मानव पांच मनोदैहिक तत्वों का एक यौगिक है – शरीर, भावनाएं, संवेदनायें, मन की स्थिति, और अभिज्ञता। ये पांच तत्व क्षण प्रतिक्षण भिन्न होते हैं और नए विन्यास बनाते हैं। उदाहरण के लिए एक बूढ़ा व्यक्ति वैसा नहीं है जैसा सत्तर साल पहले किसी की आंचल में था। वास्तव में व्यक्ति एक मिनट पहले के व्यक्ति के रूप में भी नहीं है। हर पल व्यक्ति बदल रहा है और एक नए व्यक्ति की ओर अग्रसर है जिसका कारण वही पहला व्यक्ति है। यह कारण और प्रभाव की श्रृंखला है जो एक स्थिति को दूसरे से जोड़ती है। ब्रह्मांड निरंतर प्रवाह की स्थिति में है। स्थायित्व के बारे में सभी विचार अज्ञान से उत्पन्न होते हैं जो दुखों के स्रोत्र हैं।

बौद्ध धर्म *आत्मन्* में विश्वास नहीं करता। ब्रह्मांड आत्मशून्य है। यहां तक कि देवता भी आत्म-शून्य हैं। स्थानांतरगमन में एक जीवन से दूसरे में कुछ भी नहीं जाता। वहां केवल कारण और प्रभाव की एक श्रृंखला है, जिसमें नए में पुराना सम्मिलित है। यदि एक जीवन से दूसरे जीवन में कुछ संचरित नहीं होता, और यदि स्थानांतरगमन में शक्ति है, तो कैसे एक जीवन के बुरे कर्मों से दूसरे को प्रभावित करने वाले बौद्ध सिद्धांत की व्याख्या की जा सकती है? बौद्धों के अनुसार, इसका उत्तर यह है कि कारण और प्रभाव की श्रृंखला के परिणामस्वरूप, व्यक्ति द्वारा पहले किया गया बुरा कार्य उसके वर्तमान अस्तित्व को प्रभावित करता है, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि पहले और बाद के व्यक्ति में कितना अंतर है।

केवल *निर्वाण* (पालि में *निब्बान*) ही स्थिर तत्व है। यह आनंद की स्थिति है, जब एक सच्चे ज्ञान का अनुभव होता है। *निर्वाण* ब्रह्मांड के बाहर है और इसका हिस्सा नहीं है। इस प्रकार इस विरोधाभास की व्याख्या की जा सकती है कि ब्रह्मांड एक निरंतर प्रवाह की स्थिति में है और *निर्वाण* विश्राम (स्थायित्व) की स्थिति में है।

11.6.2 जैन धर्म

वर्धमान जैन धर्म के 24वें *तीर्थंकर* थे और उनके अनुयायी उनको महावीर ('द ग्रेट हीरो') के रूप में जानते थे। उन्होंने तीस वर्ष की आयु में सांसारिक जीवन का त्याग किया। सबसे पहले उन्होंने *निर्ग्रन्थों* (बेड़ियों से मुक्त') के मार्ग का अनुसरण किया जिसकी स्थापना लगभग 200 साल पहले पार्श्वनाथ ने की थी। महावीर के अनुयायियों द्वारा *निर्ग्रन्थ* शब्द का प्रयोग किया गया था।

बौद्ध धर्म के समान जैन धर्म मुख्य रूप से इस अर्थ में नास्तिक है कि देवताओं की उपस्थिति स्वीकार की जाती है, लेकिन वे सार्वभौमिक योजना में पर्याप्त महत्वपूर्ण नहीं हैं। विश्व सार्वभौमिक नियमों के अनुसार कार्य करता है किसी देवता की इच्छा के अनुसार नहीं।

ब्रह्मांड जीवित आत्मन्ओं (*जीव*, शाब्दिक रूप से जीवन), और गैर-जीवित तत्वों की पांच श्रेणियों (*अजीव*) के मध्य की पारस्परिक क्रिया के कारण कार्य करता है। सभी जीवित प्राणियों में *आत्मन्* होती है, किन्तु जैन धर्म के अनुसार, पत्थर, चट्टानों, बहते पानी जैसी सभी निर्जीव वस्तुओं में भी *आत्मन्* होती है। ब्रह्मांड में अनंत संख्या में *आत्मन्एं* हैं। *कर्म* एक सूक्ष्म पदार्थ है जो कि उत्कृष्ट आणविक रूप में एक व्यक्तिगत *आत्मन्* से जुड़ा रहता है जो इसे अन्य *आत्मन्ाओं* से अलग बनाता है। किसी प्रकार के कार्य कलाप *कर्म* की ओर ले जाते हैं। क्रूरता के कार्य द्वारा अधिक कर्म उत्पन्न होता है। पहले से प्राप्त किये कर्म और अधिक कर्मों के अधिग्रहण की ओर ले जाते हैं, और इस प्रकार स्थानांतरगमन का चक्र जारी रहता है। कर्म जो पहले से ही आत्मन् के साथ जुड़े हैं उन्हें दूर करके स्थानांतरगमन से बचा जा सकता है। यह भी सुनिश्चित करना होता है कि आगे कोई *कर्म* प्राप्त ना हो। कर्म का सर्वनाश (*निर्जर*) तपस्या के माध्यम से किया जाता है, और आत्मन् में कर्म अंतर्प्रवाह (*आस्रव*) की रोकथाम (*संवर*) और कर्मों के स्थिरीकरण (*बंध*) को अनुशासनात्मक आचरण द्वारा सुनिश्चित किया जाता है, जिसके परिणामस्वरूप यह खतरनाक परिमाण तक नहीं पहुंचता है और तुरंत बिखर जाता है। जब *आत्मन्* अंततः मुक्त हो जाती है तो यह स्वर्ग की उचाईयों तक ब्रह्मांड के शीर्ष पर पहुँच जाती है, जहां यह अनंत काल तक परम आनंद में रहती है। जैनियों के लिए यही *निर्वाण* है।

जैनियों के लिए *निर्वाण* प्राप्त करने के लिए मठवासी जीवन आवश्यक है। उपवास, आत्म-निग्रह और ध्यान के माध्यम से *निर्वाण* प्राप्त किया जा सकता है। सभी अतिरिक्त कर्मों को कठोर अनुशासन के माध्यम से दूर किया जा सकता है। साधारण व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता। *निर्वाण* प्राप्त करने के लिए नग्नावस्था आवश्यक है।

एक जैन भिक्षु का जीवन पाँच प्रतिज्ञाओं द्वारा नियमित होता है : अहिंसा, चोरी नहीं करना (*अस्तेय*), सत्य, ब्रह्मचर्य और संपति पर कब्जा नहीं करना (*अपरिग्रह*)। हत्या या क्षति का कार्य *कर्म* के अंतर्प्रवाह का सबसे प्रबल कारण है इसलिए इससे बचा जाना चाहिए। कृषि निषिद्ध है क्योंकि खेती और कटाई से पौधों और मिट्टी में जीवन का नाश होता है। अहिंसा के सिद्धांत में जैन धर्म अन्य धर्मों की तुलना में बहुत आगे पहुँच गया। उनका मानना था कि कोई भी कार्य, चाहे अनजाने में ही क्यों न किया हो, अगर दूसरों को चोट पहुंचाता है, तो यह पाप है और *कर्म* की ओर ले जाता है।

11.6.3 संशयवाद और भौतिकवाद

छठी शताब्दी बी.सी.ई. में महावीर, गौतम बुद्ध, गोशाल सहित अन्य कई उपदेशकों द्वारा वाद-विवाद में सक्रिय भागीदारी देखी गई। इस समय से भौतिकवादी मत लोकप्रिय होने

लगे। इस मत के अनुसार, सभी धार्मिक अनुपालन और नैतिकता निरर्थक थे। एक व्यक्ति को जीवन का पूरा आनंद लेना चाहिए और अधिक से अधिक खुशियाँ मनानी चाहिए। बौद्ध और जैन धर्म के मितव्ययी गुणों को अस्वीकार कर दिया गया। सहवर्ती दुख के कारण मनुष्य को सुख का त्याग नहीं करना चाहिए। जिस तरह वह मकई के साथ कभी-कभी भूसी (छिलका) स्वीकार करता है, उसी तरह उसे जीवन की खुशियों के साथ कभी-कभी दुःख को भी स्वीकार करना चाहिए।

इस काल के कई उपदेशक देवताओं की प्रधानता में विश्वास नहीं करते थे। उनके अनुसार देवता सीमित शक्तियाँ रखने वाले केवल उत्कृष्ट प्राकृतिक प्राणी थे। सभी स्थानांतरगमन के सिद्धांत में विश्वास करते थे, हालांकि इसकी प्रक्रिया के बारे में अलग-अलग व्याख्या की गई थी।

बोध प्रश्न 2

1) दर्शन की छह प्रणालियाँ क्या हैं? स्पष्ट कीजिए।

2) निम्नलिखित कथनों के सामने सत्य (✓) या असत्य (✗) चिन्हित कीजिए :

   1) *उपनिषदों* में बुद्ध की शिक्षाएँ हैं।

   2) *आत्मन्* की अवधारणा का अर्थ था व्यक्तिगत *आत्मन्*।

   3) विधर्मी संप्रदाय *वेदों* की सत्ता के खिलाफ थे।

   4) *सांख्य* स्कूल दर्शने की छह प्रणालियों में सबसे पुराना था।

   5) *वेदांत* शब्द का अर्थ है '*वेदों* का अंत'।

   6) पाली धर्मसिद्धान्त चीन में लेखन के लिए प्रतिबद्ध था।

   7) बौद्ध धर्म के प्रमुख सिद्धांत को *पटिच्चसमुप्पाद* कहा जाता है।

   8) जैन धर्म प्रकृति में नास्तिक नहीं है।

11.7 सारांश

छठी शताब्दी बी.सी.ई. तीव्र परिवर्तनों का युग था। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्तरों पर होने वाले घटनाक्रम सामाजिक ताने-बाने को तोड़ रहे थे। वैदिक धर्म खर्चीला और दुर्भर हो गया था। वैदिक अनुष्ठान और बलि के विरोध के स्वरों के कारण विधर्मी संप्रदायों का उदय हुआ। उनके लिए सामूहिक अनुष्ठान नहीं बल्कि व्यक्ति और उसके लिए मोक्ष की खोज मायने रखती थी। इसके अलावा, ब्रह्मांड में व्यक्ति के स्थान, स्वत्व के अर्थ, और चेतना की उत्पत्ति के बारे में प्रश्न बहुत से लोगों को तपश्चर्या की ओर मोड़ रहे थे। सर्वोच्च सत्य को प्राप्त करने की उत्कंठा थी जिससे सभी दुखों, अनिश्चितताओं और शंकाओं की समाप्ति हो जाए। इसके परिणामस्वरूप चिंतनशील (मीमांसात्मक) सिद्धांतों की बहुलता का उदय हुआ। वन में एकांतवासी लोगों ने भी रूढ़िवादी ढांचों के भीतर तपश्चर्या को चुना। मुख्यतः उनके मध्य से *उपनिषद* साहित्य का विकास हुआ।

11.8 शब्दावली

अहिंसा : हानि नहीं पहुँचाना, हिंसा नहीं करना

आश्रम : जीवन के चार चरण – *ब्रह्मचर्य* (ब्रह्मचर्य विद्यार्थी); *गृहस्थ* (गृहस्थ अवस्था); *वानप्रस्थ* (आंशिक त्याग); और *संन्यास* (पूर्ण त्याग)।

आत्मन : *उपनिषदों* के अनुसार, स्वत्व के भीतर का अविनाशी अंतिम यथार्थ

भिक्खु : पाली (संस्कृत - *भिक्षु*), भिक्षा माँगकर जीवन यापन करने वाला; एक बौद्ध या जैन भिक्षु

ब्रह्मन् : *उपनिषदों* के अनुसार, ब्रह्मांड का अविनाशी, परम वास्तविक सत्य,

चार्वाक : एक नास्तिक भौतिकवादी दार्शनिक मत, जिसे *लोकायत* भी कहा जाता है।

दर्शन : शाब्दिक 'दृष्टि'; दर्शन

कर्म : सिद्धांत जिसके अनुसार कार्यों के परिणाम होते हैं जो वर्तमान और भविष्य के जीवन को निर्धारित करते हैं।

मोक्ष : जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्ति

निब्बना : संस्कृत में *निर्वाण*। बौद्ध दर्शन में प्रयुक्त एक शब्द जिसका अर्थ है जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्ति।

परिब्ज्जका : (पाली)। पथिक, त्यागी।

पटिच्चसमुप्पाद : (पाली)। निर्भर व्युत्पति का नियम; बौद्ध शिक्षण का एक हिस्सा।

तीर्थकर : (शाब्दिक) - अरिहंत; एक जैन संन्यासी।

11.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 11.2 देखें।

2) उपभाग 11.4.1 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 11.5 देखें।

2) 1) ×
   2) ✓
   3) ✓
   4) ✓
   5) ✓
   6) ×
   7) ✓
   8) ×

11.10 उपयोगी पुस्तकें

ब्लैक, ब्रायन, (दिनांक नहीं). उपनिषद, *इंटरनेट इनसाइक्लोपीडिया ऑफ फिलॉसफी*। ISSN-2161-0002.https;//www.iep.utm.edu/

दासगुप्ता, सुरेंद्रनाथ (2004). *ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलॉसफी.* वॉल्यूम 1. प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग।

सिंह, उपिंदर (2008). *ए हिस्ट्री ऑफ एंशिएट एंड अर्ली मेडीवल इंडिया.* डोरलिंग किंडरस्ले।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 12 बौद्ध धर्म, जैन धर्म तथा आजिवक*

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 नये धार्मिक विचारों का उद्‌भव

12.3 भौतिक परिवेश

12.4 गौतम बुद्ध और बौद्ध धर्म की उत्पत्ति

12.4.1 बौद्ध मत का विकास

12.5 जैन धर्म की उत्पत्ति

12.5.1 महावीर के उपदेश

12.5.2 जैन धर्म का विकास

12.6 अन्य विधर्मिक विचार

12.7 आजिवक संप्रदाय

12.8 नये धार्मिक आंदोलनों का प्रभाव

12.9 सारांश

12.10 शब्दावली

12.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.12 संदर्भ ग्रंथ

12.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद, आप यह जान पाएँगे कि :

- लगभग छठी शताब्दी बी.सी.ई. में नये धार्मिक विचारों के उदय की पृष्ठभूमि क्या थी;
- बौद्ध मत और जैन मतों का उद्‌भव और विकास कैसे हुआ;
- इन धर्मों के मुख्य सिद्धान्त क्या थे;
- इन धर्मों का समकालीन समाज पर क्या प्रभाव पड़ा; और
- लगभग छठी शताब्दी बी.सी.ई. में प्रचलित अन्य विधर्मिक विचार क्या थे।

12.1 प्रस्तावना

भारतीय इतिहास में छठी शताब्दी बी.सी.ई. का बड़ा महत्त्व है क्योंकि यह काल नये धर्मों के विकास से सम्बद्ध है। हम पाते हैं कि इस काल में ब्राह्मणों के अनुष्ठानिक रूढ़िवादी विचारों का विरोध बढ़ रहा था। फलतः बहुत सारे भिन्न मत वाले धार्मिक आंदोलनों का उद्‌भव हुआ। इनमें से बौद्ध मत एवं जैन मत संगठित तथा लोकप्रिय धर्मों के रूप में विकसित हुए। इस इकाई में इन नये धार्मिक विचारों के उद्‌भव और महत्त्व को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है।

* यह इकाई ई.एच.आई.-02, खंड-4 से ली गई है।

इस इकाई में सबसे पहले, विधर्मिक विचारों के उद्भव तथा फैलाव के लिए उत्तरदायी कारणों को विश्लेषित किया गया है। फिर यह बताया गया है कि बुद्ध तथा महावीर ने किस प्रकार से मानव के दु:ख का समाधान खोजने के लिए अपने तरीके से प्रयास किए। क्योंकि दोनों धर्मों के उद्भव के कारणों में समानता है, इसलिये दोनों धर्मों के कुछ सिद्धांत भी समान हैं। परन्तु इनके कुछ मूल सिद्धान्तों में भिन्नता भी है। इन्हीं मुद्दों पर इस इकाई में विवेचन किया गया है।

इस इकाई में लगभग छठी शताब्दी बी.सी.ई. में उभरे अन्य विधर्मिक विचारों के विषय में भी बताया गया है। अन्त में इस तथ्य का विवेचन किया गया है कि इन नये धार्मिक आंदोलनों का तात्कालिक आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा।

12.2 नये धार्मिक विचारों का उद्भव

नये धार्मिक विचारों का उद्भव उस युग की प्रचलित सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के अंतर्गत निहित था। अब हम उन आधारभूत कारणों का विवेचन करेंगे जिन्होंने इनके उद्भव में भूमिका अदा की।

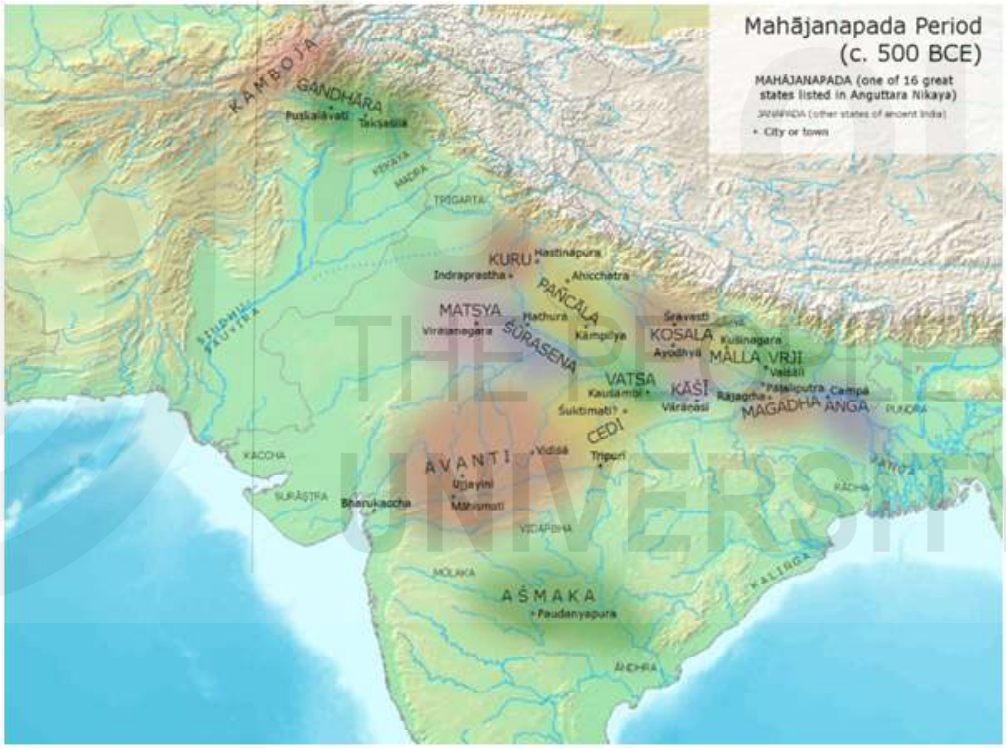

बुद्ध के समय के भारत में प्राचीन राज्य एवं महानगर (लगभग 500 बी.सी.ई.) श्रेयः आवंतिपुरा7 स्रोतः विकिमीडिया कॉमन्स.(https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Mahajanapadas_(c._500_BCE).png)

i) इस काल के नये समाज के संदर्भ में वैदिक धर्म पद्धति जटिल तथा अर्थ-विहीन हो गयी थी। बलि एवं अनुष्ठान अक्सर बड़े पैमाने पर आयोजित किए जाने लगे। बड़े समुदाय के बिखरने के साथ-साथ आयोजनों में लोगों की भागीदारी कम हो गई और समाज के कई समूहों के लिए अर्थहीन हो गई।

ii) बलि-यज्ञों तथा अनुष्ठानों के बढ़ते महत्त्व ने समाज में ब्राह्मण समुदाय के प्रभुत्व को स्थापित किया। वे पुजारी तथा अध्यापक, दोनों का कार्य करते थे और धार्मिक अनुष्ठानों के आयोजन पर अपने एकाधिकार के कारण वे चार *वर्णों* में विभाजित समाज में अपने को सर्वश्रेष्ठ मानते थे।

iii) समकालीन आर्थिक-राजनीतिक परिस्थितियों ने भी नए सामाजिक समुदायों के उद्भव में मदद की। ये समुदाय आर्थिक रूप से सम्पन्न थे। शहर में रहने वाले व्यापारियों तथा अमीर खेतिहर समुदायों के पास प्रचुर सम्पत्ति थी। क्षत्रिय समुदाय, चाहे वे राजतंत्र में हो अथवा गणसंघ में, के हाथ में अब पहले से अधिक राजनीतिक शक्ति थी। ये सामाजिक समुदाय उस सामाजिक व्यवस्था का विरोध कर रहे थे, जो ब्राह्मणों ने वंश के आधार पर निर्धारित की थी। बौद्ध मत तथा जैन मत ने जन्म के आधार पर सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा को कोई महत्त्व नहीं दिया जिसके कारण वैश्य इन सम्प्रदायों की ओर आकर्षित हुए। इसी तरह से ब्राह्मणों के प्रभुत्व से क्षत्रिय समुदाय अर्थात् शासक वर्ग भी नाराज़ था। संक्षेप में समाज में ब्राह्मणों की सर्वोच्चता ने असंतोष उत्पन्न किया और इसी ने नवीन धार्मिक विचारों के उदय में सामाजिक सहयोग प्रदान किया। यह ध्यान देने योग्य बात है कि दोनों बुद्ध तथा महावीर क्षत्रिय समुदाय से थे। मगर जटिल सामाजिक समस्याओं से जूझते हुए वे जन्म द्वारा निर्धारित सीमाओं को पार कर गए। जब हम यह जानने की कोशिश करते हैं कि उस समय के समाज में इनके विचार कितने लोकप्रिय हुए तो हम पाते हैं कि राजाओं, बड़े व्यापारियों, अमीर गृहस्थों, ब्राह्मणों तथा वेश्याओं ने भी उनके विचारों के प्रति उत्साह दिखाया। वे सभी उस नए समाज का प्रतिनिधित्व करते थे जो लगभग छठी शताब्दी बी.सी.ई. में उभर रहा था। तथा बुद्ध, महावीर एवं उस समय के अन्य विचारकों ने अपने-अपने तरीके से एक नई सामाजिक व्यवस्था की समस्याओं का जवाब दिया। इस नई सामाजिक व्यवस्था के लिए वैदिक कर्मकांडी प्रथाओं की प्रासंगिकता समाप्त हो रही थी।

हालांकि प्रचलित धार्मिक सम्प्रदायों की आलोचना करने वालों में बुद्ध एवं महावीर ही पहले नहीं थे। उनसे पहले दूसरे धार्मिक उपदेशकों जैसे कपिल, गोसल, मक्काली, अजिता केशकेबलिन और पकुध कच्चायन ने वैदिक धर्म में सुधार के लिए उसकी बुराइयों को उजागर किया था। उन्होंने भी ईश्वर एवं जीवन के विषय में नवीन चिन्तन प्रस्तुत किए। नये दर्शनों को भी प्रचारित किया गया। परन्तु बुद्ध और महावीर ने नये वैकल्पिक धर्मों की व्यवस्था को प्रस्तुत किया।

यह वह पृष्ठभूमि थी जिसमें लगभग छठी शताब्दी बी.सी.ई. में नवीन धार्मिक व्यवस्थाओं की उत्पत्ति और स्थापना हुई। इन सभी नवीन धार्मिक सम्प्रदायों में बौद्ध सम्प्रदाय तथा जैन सम्प्रदाय सबसे अधिक लोकप्रिय और अच्छी तरह से संगठित थे।

12.3 भौतिक परिवेश

विद्वानों ने इस तथ्य पर विचार किया है कि उत्तर पूर्वी भारत में बौद्ध और जैन धर्म क्यों उत्पन्न हुए? दोनों ही धर्मों को ब्राह्मणों की बढ़ती कठोरता और कर्मकांड की पुनरावृत्ति के जवाब में एक प्रतिक्रिया के रूप में नहीं समझा जा सकता है। यदि ऐसा होता तो पश्चिमी उत्तर प्रदेश में, जहाँ ब्राह्मणवादी सिद्धांतों का और अधिक बोलबाला था, ऐसे धार्मिक विचार उभर कर सामने आते। आर.एस.शर्मा का मानना है कि इसका उत्तर लोगों के जीवन की भौतिक स्थितियों में निहित है।

1) लोहे की शुरुआत पश्चिमी उत्तर प्रदेश में 1000 बी. सी. ई. तक हो गयी थी और यह धीरे-धीरे पूर्वी यू.पी. में फैल गया। 8वीं से 5वीं शताब्दी बी.सी.ई. के बीच प्रहलादपुर (जिला वाराणसी), चिरदं (बिहार), वैशाली, सोनपुर (गया) आदि स्थानों पर लोहे के उपयोग के साक्ष्य प्राप्त हुए है। 600-300 बी.सी.ई. के बीच पूर्वी यूपी में कृषि के हल,

लोहे की कुल्हाड़ी, हल के फल, व दरांती का आगमन देखा गया। इससे जंगलों की सफाई हुयी और बड़ी बस्तियाँ उभर आई। आर.एस.शर्मा का मानना है कि मौजूदा सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियाँ कृषि के विकास के लिए अनुकूल नहीं थीं। बलि के माध्यम से पश्चिमी यूपी में कुरू और पाचांल की भूमि में मवेशियों की संपत्ति को नष्ट किया जा रहा था। *शतपथ ब्राह्मण* पूर्वी यूपी और बिहार में इसी प्रथा के प्रचलन को दर्शाता है। धर्म द्वारा स्वीकृत होने के बाद, मवेशियों की बलि एक विनाशकारी प्रथा बन गई और कृषि में एक बाधा के रूप में उभर कर आई। बलिदान के दौरान पशुधन किस पैमाने पर नष्ट हो रहा था इसका अनुमान अश्वमेध यज्ञ से होता जहां 600 विभिन्न प्रकार के पशुओं की बलि दी जाती थी। प्रारंभिक पाली ग्रन्थों में कृषि, बुवाई और खेती के बारे में गहन चिंता व्यक्त की गयी है। इस संदर्भ में भगवान बुद्ध की अहिंसा व चोट न पहुंचाने की शिक्षा अहम् बन जाती है। गौतम बुद्ध ने कहा कि पशु बलि से कोई पुण्य प्राप्त नहीं होता। *सुत्तानिपत्त* अहिंसा को सबसे बड़ा गुण मानते थे। बौद्ध धर्म और जैन धर्म दोनों ने ही अहिंसा पर ज़ोर दिया, और यह ऐसे समय में क्रांतिकारी शिक्षा बन गया जब धर्म या भोजन के लिए पशुओं को मार दिया जाता था।

2) इस अवधि में लोहे के प्रयोग से अधिशेष संभव हुआ और अन्य कारकों के साथ इसने शहरी बस्तियों के गठन में मदद की। व्यापार फला-फूला और सेठी जैसे व्यापारी समूहों का उदय हुआ। व्यापार के प्रति ब्राह्मणवादी नज़रिया उत्साहजनक नहीं था। समुद्री यात्रा को निषेध माना जाता था क्योंकि इससे जाति संरचना की शुद्धता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता था। आरंभिक कानून के अनुसार व्यापार और कृषि की व्यवस्था वैश्यों के लिए थी, जो ब्राह्मणों और क्षत्रियों के लिए निम्न समझे जाते थे। इसके अलावा, ब्राह्मणों के लिए पुरुषों, तरल पदार्थ, चमड़ा, कपड़ा और खाद्यान्न का व्यापार निषिद्ध था। वे संकट के समय कृषि व्यवसाय अपना सकते थे। क्योंकि मगध और अंग के लोग कुछ वस्तुओं का व्यापार करते थे इसलिये उन्हें निम्न समझा जाता था। इसके विपरीत बौद्धों ने समुद्री यात्राओं को स्वीकृति दी। सबसे पहले धर्मान्तरित व्यक्ति बौद्ध धर्म में व्यापारी वर्ग से थे। अनथपिंडिका जैसे धनी व्यापारी संघ को धन दान में देते थे।

3) मुद्रा और मुद्रा के आगमन और उपयोग से सूदखोरी और धन उधार देने की प्रथा का उदय हुआ। मौजूदा सामाजिक विचारधारा ने ब्याज पर पैसे उधार देने का पक्ष नहीं लिया। एक आरंभिक विधि-निर्माता *आपस्तंब* यह निश्चय करता है कि ब्राह्मण को ऐसे व्यक्ति से भोजन स्वीकार नहीं करना चाहिए जो ब्याज वसूलता हो (*वधसिकह*)। दूसरी ओर, पाली ग्रन्थों में ऋणी, लेनदार, ऋण और ब्याज के विभिन्न संदर्भ है। उधार की निंदा नहीं की गयी है। हालांकि ऋण पूर्ण रूप से चुकाने पर ज़ोर था और ऐसा माना जाता था कि इससे व्यक्ति को खुशी प्राप्त होती है।

4) शहरी परिस्थितियों से भोजनालय, वेश्यावृति का उदय हुआ। इन्हें ब्राह्मण ग्रंथों का समर्थन नहीं मिला। *आपस्तम्ब* यह निश्चय करता है कि ब्राह्मणों को दुकानों में तैयार भोजन नहीं खाना चाहिए। लेकिन बौद्ध ग्रन्थ इस तरह का रवैया नहीं पेश करते। प्रारंभिक पाली ग्रन्थ शहरों में रहने वाली वेश्याओं का उल्लेख करते हैं। आम्रपाली एक प्रसिद्ध गणिका थी जो एक रात के लिए 50 काहपण लेती थी। ब्राह्मण ग्रन्थों ने वेश्यावृति को मंजूरी नहीं दी। *बौधायान* के अनुसार वेश्या या व्याभिचारी महिला द्वारा दिया जाने वाला भोजन निषिद्ध है। इसके विपरीत बुद्ध ऐसे किसी निषेधाज्ञा पर विश्वास नहीं करते थे। बौद्ध संघ में महिलाओं के प्रवेश पर कोई रोक नहीं थी और संघ में शामिल होने पर वेश्याओं पर कोई प्रतिबंध नहीं था।

5) समाज के नए स्वरूप में जिसमें लोहे, बड़ी बस्तियों, धन के नए रूपों व वीरता का महत्व था, क्षत्रियों की उत्पत्ति एक शक्तिशाली योद्धाओं के रूप में हुयी। उनकी शक्तिशाली स्थिति ने उन्हें ब्राह्मणों के साथ सीधे प्रतिस्पर्धा में ला दिया, जिन्हें हमेशा सामाजिक पदानुक्रम में सबसे सर्वोच्च होने का श्रेय था। बुद्ध और महावीर दानों क्षत्रिय वर्ग से थे। बौद्धों ने क्षत्रियों को पहला स्थान दिया। उनका मानना था कि क्षत्रिय खेतों की रक्षा करते हैं और इस तरह करों के रूप में पैदा होने वाले किसानों के एक हिस्से पर उनका अधिकार है।

इस तरह बौद्ध धर्म की उत्पत्ति छठी शताब्दी बी.सी.ई. के भौतिक परिवेश के कारण हुयी। इसने उन धार्मिक प्रथाओं को जो कृषि के विकास में बाधा बनती थी, नकार दिया। यह पूरी तरह से नए वियोज्य वर्ग आधारित और राज्य आधारित संरचना के अनुकूल था जो लोहे के दूसरे चरण का उत्पाद था।

12.4 गौतम बुद्ध और बौद्ध धर्म की उत्पत्ति

बौद्ध मत की स्थापना गौतम बुद्ध ने की थी। उनके माता-पिता ने उनका नाम सिद्धार्थ रखा था। और उनके पिता शुद्धोधन शाक्य गण के मुखिया थे तथा उनकी माँ का नाम माया था जो कोलिया गण की राजकुमारी थीं। उनका जन्म नेपाल की तराई में स्थित लुम्बिनी (आधुनिक रुमिन्डै) नामक स्थान पर हुआ था। यह जानकारी हमें अशोक के एक स्तम्भ लेख के द्वारा मिलती है। बुद्ध की वास्तविक जन्म तिथि वाद-विवाद का विषय है परन्तु अधिकतर विद्वानों द्वारा इसको लगभग 566 बी.सी.ई. माना गया है।

यद्यपि उनका जीवन शाही ठाठ-बाट में व्यतीत हो रहा था, लेकिन यह गौतम के मस्तिष्क को आकर्षित करने में असफल रहा। पारम्परिक स्रोतों के अनुसार एक बूढ़े आदमी, एक बीमार व्यक्ति, एक मृत शरीर तथा एक संन्यासी को देखकर उन्हें बहुत दुःख हुआ। मानव जीवन के दुखों ने गौतम पर गहरा प्रभाव डाला। मानवता को दुखों से मुक्त कराने की खोज में उन्होंने 29 वर्ष की आयु में अपने घर, पत्नी तथा बेटे का परित्याग कर दिया। गौतम ने संन्यासी की भांति घूम-घूमकर छः वर्ष व्यतीत किए। उन्होंने वैशाली के अलारा कालमा से ध्यान करने और *उपनिषदों* की शिक्षा प्राप्त की। परन्तु उनकी यह शिक्षा गौतम को अन्तिम मुक्ति के लिए राह न दिखा सकी, तो उन्होंने पांच ब्राह्मण संन्यासियों के साथ उनका भी परित्याग कर दिया।

चित्र 12.1 : बुद्ध का महलों के जीवन से ''महान प्रस्थान''. गांधार. 1-2 सी.ई. गुइमेट संग्राहलय. (बुद्ध एक प्रभामंडल से घिरे है, जिसमें कई रक्षक, मिथुन प्रेमी जोड़े और देवता हैं जो श्रद्धांजलि देने आए है). स्रोतः विकिमीडिया कॉमन्स (https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Great_Departure.JPG)

बुद्ध ने कठोर संयम को अपनाया और सत्य को प्राप्त करने के लिए विभिन्न कठोर यातनाएँ सहन कीं। अंततः इन सबका त्याग करके वे उरूवेला (आधुनिक बोधगया के पास निरंजना नदी के किनारे) गये और एक पीपल के वृक्ष (बौद्ध वृक्ष) के नीचे ध्यान मग्न हो गये। यहाँ अपनी ध्यान अवस्था के उनचासवें दिन उन्हें ''सर्वोच्च ज्ञान'' की प्राप्ति हुई। तब से उनको ''बुद्ध'' (ज्ञानी पुरुष) या ''तथागत्'' (वह जो सत्य को प्राप्त करे) कहा जाने लगा। यहाँ से प्रस्थान करके वे वाराणसी के पास सारनाथ में एक हिरन उद्यान पहुँचे जहाँ पर उन्होंने अपना पहला धर्मोपदेश दिया जिसको ''*धर्मचक्र प्रवर्तन*'' (धर्म के चक्र को घुमाना) के नाम से जाना जाता है। अश्वजित, उपालि, मोगल्लान, सारिपुत्र और आनन्द – ये बुद्ध के पहले पांच शिष्य थे। बुद्ध ने बौद्ध संघ का सूत्रपात किया। उन्होंने अपने अधिकतर धर्मोपदेश श्रावस्ती में दिए। श्रावस्ती का धनी व्यापारी अनथपिण्डिक उनका शिष्य हुआ और उसने बौद्ध मत के लिए उदार दान दिया।

चित्र 12.2 : बुद्ध उपदेश देते हुए (धर्मचक्र मुद्रा) गुप्त काल, बलुआ पत्थर, ऊंचाई - 160 सेंटीमीटर। आर्कोयोलोजिकल म्यूज़ियम (ए एस आई), सारनाथ. श्रेयः तेराप्रपस। स्रोतः विकिमीडिया कॉमन्स (https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Buddha_in_Sarnath_Museum_(Dhammajak_Mutra).jpg)

जल्द ही उन्होंने अपने धर्म प्रवचन के प्रचार के लिए बहुत से स्थानों का भ्रमण करना शुरू कर दिया। वे सारनाथ, मथुरा, राजगीर, गया और पाटलिपुत्र गये। बिम्बिसार, अजातशत्रु (मगध), प्रसेनजीत (कोसल) और उदयन (कौशाम्बी) के राजाओं ने उनके सिद्धान्तों को स्वीकार किया तथा वे उनके शिष्य बन गये। वह कपिलवस्तु भी गये और उन्होंने अपनी धाय माता व बेटे राहुल को भी अपने सम्प्रदाय में परिवर्तित किया।

मल्ल गणों की राजधानी कुशीनगर (उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले में स्थित कसिया) में 80 वर्ष की आयु में (486 बी.सी.ई.) बुद्ध की मृत्यु हो गई (चित्र 12.3)।

चित्र 12.3 : बुद्ध का महापरिनिर्वाण। गांधार, 2-3 शताब्दी। श्रेयः पी एच जी। स्रोतः विकिमीडिया कॉमन्स (https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Paranirvana.JPG)

आइए अब बुद्ध की उन शिक्षाओं का विवेचन करें जो लोकप्रिय हुईं और जिन्होंने उस समय के धार्मिक विचारों को नवीन दिशा प्रदान की।

बुद्ध के उपदेश

बुद्ध के मूलभूत उपदेश निम्नलिखित में संकलित हैं :

क) *चार आर्य सत्य,* और

ख) *अष्टांगिक मार्ग*

क) निम्नलिखित *चार आर्य सत्य* हैं :

i) संसार दुःखों से परिपूर्ण है।

ii) सारे दुःखों का कोई न कोई कारण है। इच्छा, अज्ञान और मोह मुख्यतः दुःख के कारण हैं।

iii) इच्छाओं का अन्त मुक्ति का मार्ग है।

iv) मुक्ति (दुःखों से छुटकारा पाना) *अष्टांगिक मार्ग* द्वारा प्राप्त की जा सकती है।

ख) *अष्टांगिक मार्ग* में निम्नलिखित सिद्धांत समाहित हैं :

i) *सम्यक् दृष्टि :* इसका अर्थ है कि इच्छा के कारण ही इस संसार में दुःख व्याप्त है। इच्छा का परित्याग ही मुक्ति का मार्ग है।

ii) *सम्यक् संकल्प :* यह लिप्सा और विलासिता से छुटकारा दिलाता है। इसका उद्देश्य मानवता को प्रेम करना और दूसरों को प्रसन्न रखना है।

iii) *सम्यक् वाचन :* अर्थात् सदैव सच बोलना।

iv) *सम्यक् कर्म :* इसका तात्पर्य है स्वार्थरहित कार्य करना।

v) *सम्यक् जीविका :* अर्थात् व्यक्ति को ईमानदारी से अर्जित साधनों द्वारा जीवन-यापन करना चाहिए।

vi) *सम्यक् प्रयास :* इससे तात्पर्य है कि किसी को भी बुरे विचारों से छुटकारा पाने के लिए इन्द्रियों पर नियंत्रण होना चाहिए। कोई भी मानसिक अभ्यास के द्वारा अपनी इच्छाओं एवं मोह को नष्ट कर सकता है।

vii) *सम्यक् स्मृति :* इसका अर्थ है कि शरीर नश्वर है और सत्य का ध्यान करने से ही सांसारिक बुराइयों से छुटकारा पाया जा सकता है।

vii) *सम्यक् समाधि :* इसका अनुसरण करने से शान्ति प्राप्त होगी। ध्यान से ही वास्तविक सत्य प्राप्त किया जा सकता है।

बौद्ध मत ने *कर्म* के सिद्धान्त पर बल दिया, जिसके अनुसार वर्तमान का निर्णय भूतकाल के कार्य करते हैं। किसी व्यक्ति की इस जीवन और अगले जीवन की दशा उसके कर्मों पर निर्भर करती है।

प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। अपने कर्मों को भोगने के लिए हम बार-बार जन्म लेते हैं। अगर कोई व्यक्ति किसी भी तरह का पाप नहीं करता है तो उसका पुनर्जन्म नहीं होगा। इस प्रकार बुद्ध के उपदेशों का अनिवार्य तत्व या सार ''*कर्म-दर्शन*'' है।

बुद्ध ने *निर्वाण* का प्रचार किया। उनके अनुसार यही प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का अंतिम उद्देश्य है। इसका तात्पर्य है सभी इच्छाओं से छुटकारा, दुःखों का अन्त जिससे अन्ततः पुनर्जन्म से मुक्ति मिलती है। इच्छाओं की समाप्ति की प्रक्रिया के द्वारा कोई भी *निर्वाण* पा सकता है। इसलिए बुद्ध ने उपदेश दिया कि इच्छा ही वास्तविक समस्या है। पूजा और बलि इच्छा को समाप्त नहीं कर सकेंगे। इस प्रकार वैदिक धर्म में होने वाले अनुष्ठानों एवं यज्ञों के विपरीत बुद्ध ने व्यक्तिगत नैतिकता पर बल दिया।

बुद्ध ने न ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकारा और न ही नकारा। यह व्यक्ति और उसके कार्यों के विषय में अधिक चिन्तित थे। बौद्ध मत ने आत्मा के अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं किया।

इनके अतिरिक्त बुद्ध ने अन्य पक्षों पर भी बल दिया :

- बुद्ध ने प्रेम की भावना पर बल दिया। *अहिंसा* का अनुसरण करके प्रेम को सभी प्राणियों पर अभिव्यक्त किया जा सकता है। यद्यपि *अहिंसा* के सिद्धांत को बौद्ध मत में अच्छी तरह से समझाया गया था, परन्तु इसको इतना महत्त्व नहीं दिया गया जितना कि जैन मत में।
- व्यक्ति को मध्य मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। कठोर संन्यास एवं विलासी जीवन दोनों से बचना चाहिए।

बौद्ध धर्म का थोड़े ही समय में एक संगठित धर्म के रूप में उद्‌भव हुआ और बुद्ध के उपदेशों को संग्रहीत किया गया। बौद्ध धर्म के इस संग्रहीत साहित्य (उपदेशों का संग्रह-पिटक) को तीन भागों में बांटा गया है :

i) *सुत्त-पिटक* में पांच *निकाय* हैं जिनमें धार्मिक सम्भाषण तथा बुद्ध के संवाद संकलित हैं। पांचवें *निकाय* में *जातक* कथायें (बुद्ध के पूर्व जन्मों से सम्बद्ध कहानियाँ) हैं।

ii) *विनय पिटक* में भिक्षुओं के अनुशासन से संबंधित नियम हैं।

iii) *अभिधम्म-पिटक* में बुद्ध के दार्शनिक विचारों का विवरण है। इन्हें प्रश्न-उत्तर के रूप में लिखा गया है।

12.4.1 बौद्ध मत का विकास

अब हम उन कारणों पर प्रकाश डालेंगे जिन्होंने बौद्ध मत के विकास में योगदान दिया और उसको एक लोकप्रिय धर्म बनाया।

बौद्ध मत का विस्तार

इसके संस्थापक के जीवन काल में ही बड़ी संख्या में लोगों ने बौद्ध मत को स्वीकार कर लिया था। उदाहरण के लिए मगध, कोसल और कौशाम्बी की जनता ने बौद्ध मत को स्वीकार किया। शाक्य, वज्जि और मल्ल *जनपदों* की जनता ने भी इसका अनुसरण किया। अशोक एवं कनिष्क ने बौद्ध मत को राज्य धर्म बनाया और यह मध्य एशिया, पश्चिम एशिया और श्रीलंका में भी फैला। बौद्ध मत जनता के बड़े हिस्सों में लोकप्रिय होने के निम्नलिखित कारण थे :

चित्र 12.4 : अशोक के रूम्मिनडै लघु स्तम्भ लेख (250 बी.सी.ई.) पर ब्राह्मी लिपि में बु-धा (बुद्ध) और "सा-क्या-मु-नी" (शाक्यों का ऋषि) शब्द। श्रेयः पेनांग मलेशिया से धर्मा। स्रोतः विकिमीडिया कॉमन्स https://commons.wikimedia.org/w/index.php?curid=72611830

- व्यावहारिक नैतिकता पर बल देना, मानव जाति की समस्याओं का सहज स्वीकृत समाधान और साधारण दर्शन ने जनता को बौद्ध मत की ओर आकर्षित किया।
- बौद्ध धर्म में संकलित सामाजिक समानता के विचारों के कारण साधारण जनता ने बौद्ध मत को स्वीकार किया।
- अनथपिण्डिक जैसे व्यापारी और आम्रपाली जैसी गणिका ने इस मत को स्वीकार किया क्योंकि उन्होंने इस धर्म में उचित सम्मान प्राप्त किया।
- विचारों को व्यक्त करने के लिए लोकप्रिय भाषा पाली के प्रयोग ने भी धर्म के विस्तार में मदद दी। संस्कृत का प्रयोग करने के कारण ब्राह्मण धर्म सीमा में बंध गया था क्योंकि यह जन-भाषा नहीं थी।
- राजाओं के द्वारा संरक्षण प्रदान किये जाने के कारण बौद्ध धर्म का विस्तार तेजी के साथ हुआ। उदाहरण के लिए, ऐसी धारणा है कि अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र तथा पुत्री संघमित्रा को श्रीलंका में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए भेजा। उसने बहुत से बौद्ध विहारों को स्थापित किया और *संघ* के लिए उदार भाव से दान आदि भी दिया।
- बौद्ध मत को प्रभावशाली ढंग से फैलाने में *संघ* की संस्था ने संगठित रूप से योगदान दिया।

संघ बौद्ध मत की धार्मिक अवस्था थी। यह एक अच्छे प्रकार से संगठित एवं शक्तिशाली संस्था थी और इसने बौद्ध को लोकप्रिय बनाया। 15 वर्ष से अधिक की आयु वाले सभी नागरिकों के लिए इसकी सदस्यता खुली थी चाहे वे किसी भी जाति के हों। किन्तु अपराधी, कुष्ठ रोगी तथा संक्रामक रोग से पीड़ित लोगों को *संघ* की सदस्यता नहीं दी जाती थी।

प्रारम्भ में गौतम बुद्ध महिलाओं को *संघ* का सदस्य बनाने के पक्ष में नही थे। लेकिन उनके मुख्य शिष्य आनन्द एवं उनकी धाय माँ महाप्रजापति गौतमी के लगातार निवेदन करने पर उन्होंने उनको *संघ* में प्रवेश दिया।

भिक्षुओं को प्रवेश लेने पर विधिपूर्वक अपना मुंडन कराना एवं पीले या गेरुए रंग का लिबास पहनना पड़ता था। उनसे आशा की जाती थी कि वे नित्य बौद्ध मत के प्रचार के लिए जायेंगे और भिक्षा प्राप्त करेंगे। वर्षा ऋतु के चार महीनों के दौरान वे एक निश्चित निवास स्थान बनाते थे और ध्यान करते थे। इसको आश्रय या *वास* कहा जाता था। *संघ* लोगों को शिक्षा देने का भी काम करता था। ब्राह्मणवाद के विपरीत बौद्ध मत में समाज के सभी लोग शिक्षा ग्रहण कर सकते थे। स्वाभाविक रूप से जिन लोगों को ब्राह्मणों ने शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार से वंचित कर दिया था उनको बौद्ध मत में शिक्षा प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हो गया और इस प्रकार शिक्षा समाज के काफ़ी तबकों में फैल गईं।

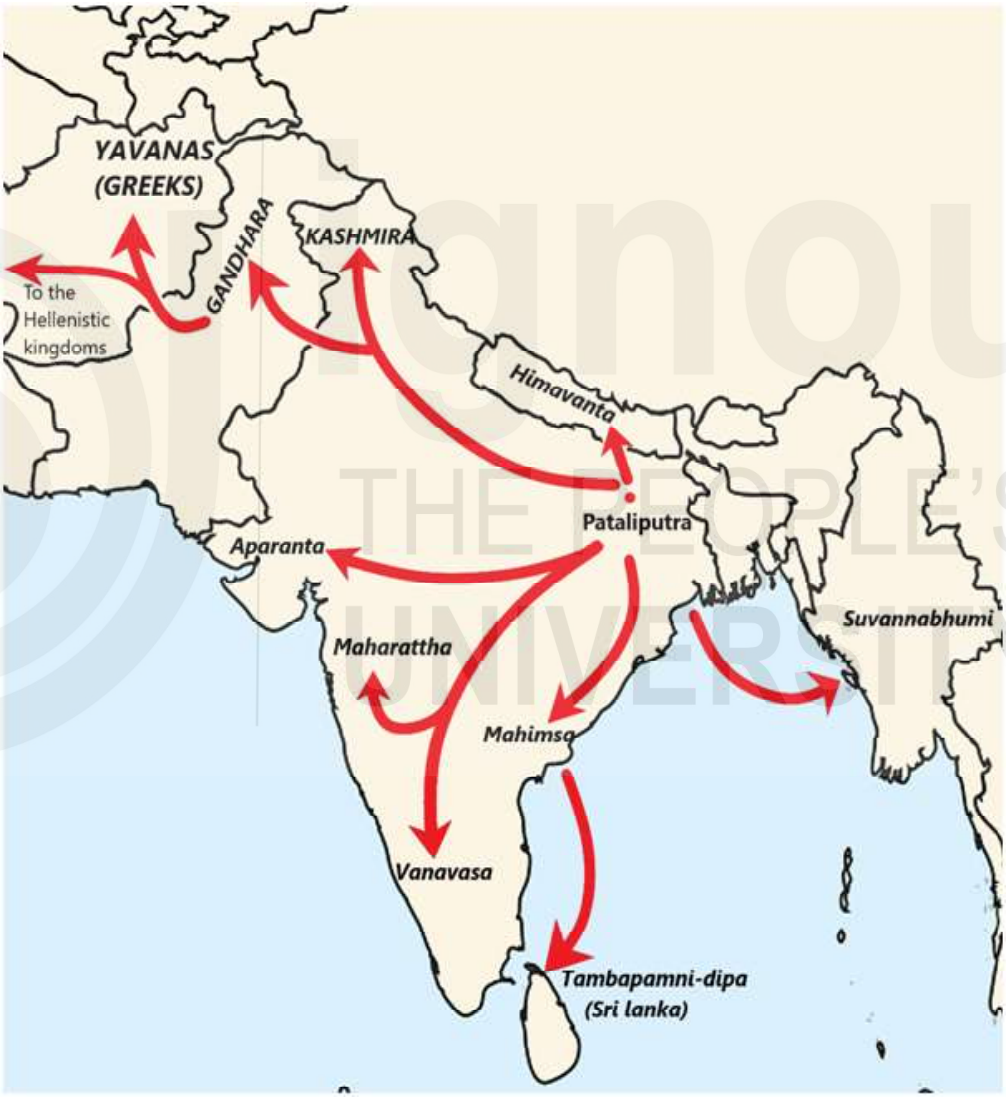

अशोक के शासनकाल के दौरान बौद्ध धर्म-प्रचार मिशनों का मानचित्र। श्रेयः जेवियर एफवी 1212. स्रोतः विकिमीडिया कॉमन्स (https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Asoka%CC%A0_Buddhist_Missions.png)

संघ का संचालन जनतांत्रिक सिद्धान्तों के अनुसार होता था और अपने सदस्यों को अनुशासित करने की शक्ति भी इसी में निहित थी। यहाँ पर भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों के लिए एक आचार-संहिता थी और वे इसका पालन करते थे। गलती करने वाले सदस्य को *संघ* दण्डित कर सकता था।

बौद्ध मत की सभायें

अनुश्रुतियों के अनुसार बुद्ध की मृत्यु के कुछ समय बाद 483 बी.सी.ई. में राजगृह के पास सप्तपर्णि गुफा में बौद्ध मत की प्रथम सभा हुई। इस सभा की अध्यक्षता, महाकस्यप ने की। बुद्ध की शिक्षा को *पिटकों* में विभाजित किया गया, जिनके नाम इस प्रकार हैं :

क) *विनय-पिटक,* और

ख) *सुत्त-पिटक*

विनय-पिटक की रचना उपाली के नेतृत्व में की गई और *सुत्त-पिटक* की रचना आनन्द के नेतृत्व में की गई।

दूसरी सभा का आयोजन 393 बी.सी.ई. में वैशाली में हुआ। पाटलीपुत्र तथा वैशाली के भिक्षुओं ने कुछ नियमों को धारण किया परन्तु इन नियमों की कौशाम्बी व अवन्ति के भिक्षुओं के द्वारा बुद्ध की शिक्षा के प्रतिकूल घोषित कर दिया गया। दोनों विरोधी गुटों के बीच कोई भी समझौता कराने में सभा असफल रही। बौद्ध धर्म का विभाजन स्थायी तौर पर दो बौद्ध सम्प्रदायों– *स्थविरावादी* व *महासंघिक* में हुआ। पहले सम्प्रदाय ने *विनय-पिटक* में वर्णित रूढ़िवादी विचारों को अपनाया और दूसरे ने नये नियमों का समर्थन किया और फिर उनमें परिवर्तन किए।

चित्र 12.5 : राजगीर (बिहार) की सत्तपन्नी गुफाएँ जहाँ प्रथम बौद्ध सभा आयोजित हुयी। स्रोतः विकिमीडिया कॉमन्स (https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Sattapanni.jpg)

तीसरी सभा का आयोजन अशोक के शासनकाल में मोग्गालिपुत तिस्स की अध्यक्षता में पाटलिपुत्र में किया गया। इस सभा में सिद्धान्तों की दार्शनिक विवेचना को संकलित किया गया तथा इसको *अभिधम्म-पिटक* के नाम से जाना जाता है। इस सभा में बौद्धमत को असंतुष्टों एवं नये परिवर्तनों से मुक्त कराने का प्रयोग किया गया। 60,000 ''पथभ्रष्ट'' भिक्षुओं को बौद्ध मत से इस सभा द्वारा निष्कासित कर दिया गया। सत्य उपदेशों के साहित्य को परिभाषित किया गया तथा आधिकारिक तौर पर विघ्न पैदा करने वाली प्रवृत्तियों से भी निपटा गया।

चौथी सभा का आयोजन कश्मीर में कनिष्क के शासन काल में हुआ। इस सभा में उत्तरी भारत के *हीनयान* सम्प्रदाय को मानने वाले एकत्रित हुए। तीन *पिटकों* पर तीन टीकाओं (भाष्यों) का संकलन इस सभा द्वारा किया गया। इसने उन विवादग्रस्त मतभेद वाले प्रश्नों का निपटारा किया जो सरवस्तीवाद एवं कश्मीर तथा गन्धार के प्रचारकों के मध्य उत्पन्न हो गये थे।

बौद्ध धर्म के सम्प्रदाय

वैशाली में आयोजित दूसरी सभा में, बौद्ध धर्म का निम्न दो सम्प्रदायों में विभाजन हुआः

क) *स्थविरावादी*

ख) *महासंघिक*

स्थविरावादी धीरे-धीरे ग्यारह सम्प्रदायों और *महासंघिक* सात सम्प्रदायों में बंट गये थे।

अठ्ठारह सम्प्रदाय *हीनयान* मत में संगठित हुए। *स्थविरवादी* कठोर भिक्षुक जीवन और मूल निर्देशित कड़े अनुशासित नियमों का अनुसरण करते थे। वह समूह जिसने संशोधित नियमों को माना, वह *महासंघिक* कहलाया।

महायान सम्प्रदाय का विकास चौथी बौद्ध सभा के बाद हुआ। *हीनयान* सम्प्रदाय, जो बुद्ध की रूढ़िवादी शिक्षा में विश्वास करता था, इनका जिस गुट ने विरोध किया और जिन्होंने नये विचारों को स्वीकार किया, वे लोग *महायान* सम्प्रदाय के समर्थक कहलाये। उन्होंने बुद्ध की प्रतिमा बनायी और ईश्वर की भांति उसकी पूजा की। लगभग प्रथम सदी सी.ई. में कनिष्क के शासन काल के दौरान कुछ सैद्धांतिक परिवर्तन किए गए।

बोध प्रश्न 1

1) छठी शताब्दी बी.सी.ई. में नए धार्मिक विचारों को जन्म देने वाली भौतिक परिस्थितियाँ क्या थीं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) बौद्ध धर्म की मुख्य विशेषतायें क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

12.5 जैन धर्म की उत्पत्ति

जैन श्रुतियों के अनुसार, जैन धर्म की उत्पत्ति एवं विकास के लिए 24 तीर्थांकर उत्तरदायी थे। इनमें से पहली बाईस की ऐतिहासिकता संदिग्ध है। परन्तु अन्तिम तीर्थांकर पार्श्वनाथ और महावीर की ऐतिहासिकता को बौद्ध ग्रंथों ने भी प्रमाणित किया है।

पार्श्वनाथ

जैन श्रुतियों के अनुसार 23वें तीर्थांकर पार्श्वनाथ बनारस के राजा अश्वसेन एवं रानी वामा के पुत्र थे। उन्होंने 30 वर्ष की आयु में सिंहासन का परित्याग कर दिया और वे संन्यासी हो गए। 84 दिन की तपस्या के उपरान्त उनको **ज्ञान** की प्राप्ति हुई। उनकी मृत्यु महावीर से लगभग 250 वर्ष पहले सौ वर्ष की आयु में हुई। वह ''पदार्थ'' की अनन्ता में विश्वास करते थे। वह अपने पीछे अपने समर्थकों की काफ़ी बड़ी संख्या छोड़ गए। उनके शिष्य सफेद वस्त्रों को धारण करते थे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि महावीर से पूर्व भी किसी न किसी रूप में जैन धर्म का अस्तित्व था।

महावीर

चित्र 12.6 : पार्श्वनाथ जिन. मध्य प्रदेश, 600-700 सी.ई. श्रेयः सैल्को। स्रोतः विकिमीडिया कॉमन्स। (https://commons.wikimedia.org/wiki/File:India,_madhya_pradesh,_jina_parshvanatha_dalla_temp%C3%A8esta,_600-700.JPG)

24वें तीर्थांकर वर्धमान महावीर थे। उनका जन्म कुण्डग्राम (वासुकुण्ड), वैशाली के पास (जिला मुजफ्फरपुर, बिहार) 540 बी.सी.ई. में हुआ था। उनके पिता सिद्धार्थ जान्त्रिक क्षत्रिय गण के मुखिया थे। उनकी माता लिच्छिवी राजकुमारी थी, जिनका नाम त्रिशाला था। वर्धमान ने अच्छी शिक्षा प्राप्त की और उनका विवाह यशोदा के साथ हुआ। उससे उन्हें एक पुत्री थी। 30 वर्ष की आयु में महावीर ने अपने घर का परित्याग किया और वह संन्यासी हो गये। पहले उन्होंने एक वस्त्र धारण किया और फिर उसका भी 13 मास के उपरान्त परित्याग कर दिया तथा बाद में वे ''नग्न भिक्षु'' की भांति भ्रमण करने लगे। घोर तपस्या करते हुए 12 वर्ष तक उन्होंने एक संन्यासी का जीवन व्यतीत किया। अपनी तपस्या के 13वें वर्ष में 42 वर्ष की आयु में उनको ''सर्वोच्च ज्ञान'' (केवलिन्) की प्राप्ति हुई। बाद में उनकी प्रसिद्धि ''महावीर (सर्वोच्च योद्धा)'' या *जिन* (विजयी) के नामों से हुई। उनको *निर्ग्रंथ* (बन्धनों से मुक्त) के नाम से भी जाना जाता था।

अगले 30 वर्षों तक वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करते रहे और कोसल, मगध तथा अन्य पूर्वी क्षेत्रों में अपने विचारों का प्रचार किया। वह एक वर्ष में आठ माह विचरण करते थे और वर्षा ऋतु के चार माह पूर्वी भारत के किसी प्रसिद्ध नगर में व्यतीत करते। वह अक्सर बिम्बिसार तथा अजातशत्रु के दरबारों में भी जाते थे। उनकी मृत्यु 72 वर्ष की आयु में पटना के समीप पावा नामक स्थान पर 486 बी.सी.ई. में हुई।

चित्र 12.7 : महावीर, 24वां तीर्थांकर, वर्तमान समय के चक्र में। श्रेयः दयोदय। स्रोतः विकिमीडिया कॉमन्स। (https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Mahavir.jpg)

12.5.1 महावीर के उपदेश

महावीर ने पार्श्वनाथ द्वारा प्रतिपादित किए गए धार्मिक विचारों को ही अधिकतर स्वीकार किया। तथापि उन्होंने उनमें कुछ संशोधन किया और कुछ जोड़ा।

पार्श्वनाथ ने निम्नलिखित चार सिद्धांतों का प्रचार किया था :

क) सत्य

ख) अहिंसा

ग) किसी प्रकार की कोई सम्पत्ति न रखना,

घ) स्वेच्छा से नहीं दी गई किसी भी वस्तु को ग्रहण न करना।

इसी में महावीर ने 'ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना' भी जोड़ दिया। उनका विश्वास था कि आत्मा (*जीव*) व पदार्थ (*अजीव*) अस्तित्व के दो मूलभूत तत्व हैं। जिनके अनुसार पूर्व जन्मों की इच्छाओं के कारण आत्मा दासत्व की स्थिति में है। लगातार प्रयासों के माध्यम से आत्मा को मुक्ति प्राप्त हो सकती है। यही आत्मा की अन्तिम मुक्ति (*मोक्ष*) है। मुक्त आत्मा फिर ''पवित्र/शुद्ध आत्मा'' बन जाती है।

जैन धर्म के अनुसार मानव अपने भाग्य का स्वयं रचयिता है और वह पवित्र, सदाचारी एवं आत्म-त्यागी जीवन का अनुसरण करके ही *मोक्ष* को प्राप्त कर सकता है। निम्नलिखित तीन सिद्धान्तों (तीन गुणव्रत) का अनुसरण करके *मोक्ष (निर्वाण)* प्राप्त किया जा सकता है :

i) उचित विश्वास

ii) उचित ज्ञान, और

iii) उचित कार्य

निर्वाण अर्थात् आध्यात्मिकता की सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त करने के लिए उन्होंने घोर वैराग्य और कठोर तपस्या पर ज़ोर दिया। उनका विश्वास था कि सृष्टि की रचना किसी सर्वोच्च शक्ति के द्वारा नहीं की गयी। उत्थान-पतन के अनादि नियमों के अनुसार सृष्टि कार्य करती है। उनका विचार था कि सभी चेतन या अवचेतन वस्तुओं में आत्मा का वास है। उनका विश्वास था कि वे सभी पीड़ा अथवा चोट के प्रभाव को महसूस करते हैं।

उन्होंने *वेदों* के प्रभुत्व का तिरस्कार किया और वैदिक अनुष्ठानों तथा ब्राह्मणों की सर्वोच्चता का भी विरोध किया। गृहस्थों एवं भिक्षुओं, दोनों के लिए आचार-संहिता को अनुसरणीय बताया। बुरे कर्मों से बचने के लिए एक गृहस्थ को निम्नलिखित पांच व्रतों का पालन करना चाहिए :

i) अंहिसा,

ii) चोरी न करना,

iii) व्याभिचार से बचना

iv) सत्य वचन, और

v) आवश्यकता से अधिक धन संग्रह न करना।

उन्होंने यह निर्देशित किया कि प्रत्येक गृहस्थ को ज़रूरतमंदों को प्रत्येक दिन पका हुआ भोजन खिलाना चाहिए। उन्होंने प्रचारित किया कि उनके अनुयायियों को कृषि कार्य नहीं करना चाहिए क्योंकि इस कार्य में पेड़-पौधे एवं जन्तुओं का विनाश हो जाता है। एक भिक्षु को कठोर नियमों का पालन करना पड़ता था। उसको सभी सांसारिक चीजों का परित्याग करना होता था। उसको अपने सिर के प्रत्येक बाल को अपने हाथों से उखाड़ना होता था। वह केवल दिन के समय ही चल सकता था जिससे कि किसी भी प्रकार जीव हत्या न हो या उनको कोई भी हानि पहुँचे। उनको स्वयं को इस प्रकार से प्रशिक्षित करना होता था कि वे अपनी ज्ञानेन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण कर सकें।

जैन धर्म का विश्वास था कि *मोक्ष* प्राप्ति के लिए एक भिक्षु का जीवन अनिवार्य था। और एक गृहस्थ इसको प्राप्त नहीं कर सकता था।

अनुश्रुतियों के अनुसार महावीर द्वारा शिक्षित किए गए मूल सिद्धान्तों को 14 ग्रंथों में संकलित किया गया था, जिनको *पूर्व* के नाम से जाना जाता है। पाटलिपुत्र के प्रथम सभा में स्थूलभद्र ने जैन धर्म को 12 *अंगों* में विभाजित किया, इनको *श्वेताम्बर* सम्प्रदाय ने स्वीकार किया। परन्तु *दिगम्बर* सम्प्रदाय के लोगों ने यह कहकर इसे मानने से इंकार कर दिया कि सभी पुराने धर्म ग्रंथ खो चुके हैं। दूसरी सभा का आयोजन वल्लभि में हुआ और इसमें *उपंगों* के नाम से नयी श्रुतियों को जोड़ा गया। 12 *अंगों* में *आचारंग सूत्र* और *भगवती सूत्र* सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। पहले में उन नियमों का वर्णन है जिनका जैन भिक्षुओं को अनुसरण करना चाहिए, दूसरे में जैन धर्म के सिद्धान्तों का व्यापक रूप से वर्णन किया गया है।

12.5.2 जैन धर्म का विकास

महावीर की शिक्षाएँ जनता के बीच बड़ी लोकप्रिय हुई और समाज के विभिन्न तबके इसकी ओर आकर्षित हुए। बौद्ध धर्म की भांति जैन धर्म में भी समय-समय पर परिवर्तन होते रहे। अब हम देखेंगे कि इस धर्म के विस्तार में किन कारकों ने योगदान दिया और क्या विकास हुए?

जैन धर्म का विस्तार

महावीर के 11 शिष्य थे जिनको *गणधर* अर्थात् सम्प्रदायों का प्रमुख कहा जाता था। आर्य सुधर्मा अकेला ऐसा *गणधर* था जो महावीर की मृत्यु के पश्चात् भी जीवित रहा और जो जैन धर्म का प्रथम *थेरा* अर्थात् उपदेशक हुआ। उसकी मृत्यु महावीर की मृत्यु के 20 वर्ष पश्चात् हुई। राजा नन्द के काल में जैन धर्म के संचालन का कार्य दो *थेरों* (आचार्यों) द्वारा किया गया थाः

i) सम्भूताविजय, और

ii) भद्रबाहु

छठे *थेरा* (आचार्य) भद्रबाहु मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन थे।

धीरे-धीरे महावीर के समर्थक संपूर्ण क्षेत्र में फैल गए। जैन धर्म को शाही संरक्षण की कृपा भी रही। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार अजातशत्रु का उत्तराधिकारी उदयन जैन धर्म का अनुयायी था। सिकन्दर के भारत पर आक्रमण के समय जैन भिक्षुओं को सिन्धु नदी के किनारे पाया गया था। चन्द्रगुप्त मौर्य जैन धर्म का अनुयायी था और उसने भद्रबाहु के साथ दक्षिण की ओर प्रवास किया तथा जैन धर्म का प्रचार किया। पहली सदी सी.ई. में मथुरा एवं उज्जैन जैन धर्म के प्रभाव केंद्र बने।

बौद्ध धर्म की तुलना में जैन धर्म की सफलता शानदार थी। इसकी सफलता का एक मुख्य कारण था कि महावीर एवं उसके अनुयायियों ने संस्कृत के स्थान पर लोकप्रिय प्राकृत का प्रयोग किया। जैन धार्मिक साहित्य को अर्धमगधी में भी लिखा गया। जनता के लिए सरल एवं घरेलू निर्देशों ने लोगों को आकर्षित किया। जैन धर्म को राजाओं के द्वारा संरक्षण दिये जाने के कारण भी लोगों के मस्तिष्क में इसका स्थान बना।

जैन सभायें

चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन की समाप्ति के समीप दक्षिण बिहार में भयंकर अकाल पड़ा। यह 12 वर्षों तक चला। भद्रबाहु और उनके शिष्यों ने कर्नाटक राज्य में श्रवणबेलगोल की ओर विस्थापन किया। अन्य जैन मुनि स्थूलभद्र के नेतृत्व में मगध में ही रह गए। उन्होंने पाटलिपुत्र में 300 बी.सी.ई के आस-पास सभा का आयोजन किया जिसमें इस सभा में महावीर की पवित्र शिक्षाओं को 12 *अंगों* में विभाजित किया गया।

दूसरी जैन सभा का आयोजन 512 सी.ई. में गुजरात में वल्लभी नामक स्थान पर देवर्धि क्षेमासरमण की अध्यक्षता में किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य पवित्र ग्रंथों को एकत्र एवं उनको पुनः क्रम से संकलित करना था। किन्तु प्रथम सभा में संकलित बारहवां *अंग* इस समय खो गया था। शेष बचे हुए *अंगों* को अर्धमगधी में लिखा गया।

सम्प्रदाय

जैन धर्म में फूट पड़ने का समय लगभग 300 बी.सी.ई. माना जाता है। महावीर के समय में ही एक वस्त्र धारण करने को लेकर मतभेद स्पष्ट होने लगे थे। श्रवणबेलगोल से मगध वापस लौटने के बाद भद्रबाहु के अनुयायियों ने इस निर्णय को मानने से इंकार कर दिया कि 14 *पर्व* खो गये थे। मगध में ठहरने वालों तथा प्रस्थान करने वालों में मतभेद बढ़ते ही गये। मगध में ठहरने वाले सफेद वस्त्रों को धारण करने के अभ्यस्त हो चुके थे और वे महावीर की शिक्षाओं से दूर होने लगे, जबकि पहले वाले नग्न अवस्था में रहते और कठोरता से महावीर की शिक्षाओं का अनुसरण करते। अतः जैन धर्म का प्रथम विभाजन *दिगम्बर* (नग्न रहने वालों) और *श्वेताम्बर* (सफेद वस्त्र धारण करने वालों) के बीच हुआ।

अगली शताब्दियों में पुनः दोनों सम्प्रदायों में कई विभाजन हुए। इनमें महत्त्वपूर्ण वह सम्प्रदाय था जिसने मूर्ति-पूजा को त्याग दिया और ग्रंथों की पूजा करने लगे। वे *श्वेताम्बर* सम्प्रदाय में *थेरापन्थी* कहलाए और *दिगम्बर* सम्प्रदाय में *समैयास* कहलाए। यह सम्प्रदाय छठी शताब्दी सी.ई. के आसपास अस्तित्व में आया।

12.6 अन्य विधर्मिक विचार

अनेक ऐसे गैर ब्राह्मणवादी विधर्मी सम्प्रदाय थे जो ऐसे विचारों को प्रतिपादित कर रहे थे जो रूढ़िवादी ब्राह्मण मान्यताओं से भिन्न थे। ये बुद्ध के समकालीन थे जैसा कि *दीर्घनिकाय* के *सुमन्न फल सुत्त* में उल्लेखित है। इन शिक्षकों का उल्लेख मुख्य रूप से एक समूह के रूप में है, व्यक्तिगत रूप में नहीं। उनकी शिक्षाओं को लेकर बहुत विभ्रान्ति है और उनको जानने के लिए बहुत सावधानी की ज़रूरत है। इन सम्प्रदायों के बारे में जानकारी के लिए बौद्ध और जैन स्रोत मुख्य हैं।

सुमन्न फल सुत्त में उल्लेख है कि जब बुद्ध 1250 भिक्खुओं के साथ राजगृह में विराजमान थे तब राजा अज्ञातशत्रु को आध्यात्मिक मार्गदर्शन की ज़रूरत महसूस हुई। उनके मंत्रियों ने तब एक के बाद एक निम्नलिखित विधर्मी शिक्षकों के नाम सुझाएः

1) पुरन कस्सप
2) मक्काली गोशाला
3) अजिता केसकम्बलिन
4) पाकुध कच्छायन
5) संजय बेलाथिपुत्ता
6) निगंध नातपुत्त

प्रत्येक को एक गण के नेता (गणचार्यों) के रूप में उल्लेखित किया गया है जो प्रसिद्ध और एक सम्प्रदाय के संस्थापक (तीथ्याकरों), एक सन्त के रूप में सम्मानित (साधु-सामत्तों), अनेक लोगों की श्रद्धा पाने वाले, लम्बे समय से बेघर घुमन्तु (चिरपब्बाजित्रों) और दीर्घआयु हैं। अब हम प्रत्येक की शिक्षाओं की संक्षेप में चर्चा करेंगे।

1) पुरन कस्सप ने अक्रिया या गैर-क्रिया के सिद्धान्त का प्रचार किया। वह एक ब्राह्मण शिक्षक था, जिसका मुख्य सिद्धांत यह था कि क्रिया से कोई पाप या पुण्य पैदा नहीं होता। उनके अनुसार, भले ही एक आदमी ने पृथ्वी के सभी प्राणियों को मार दिया हो, लेकिन उसे कोई पाप नहीं लगेगा। इसी तरह, वह अच्छे कर्मों के माध्यम से या गंगा के किनारे खड़े रहकर भी कोई योग्यता अर्जित नहीं करेगा। इसी तरह, आत्म-नियंत्रण, उपहार और सत्यता से कोई श्रेय प्राप्त नहीं होता।

2) मक्काली गोशालाः इसमे नियतिवाद का एक सिद्धान्त नियत किया गया है। आजिवक सम्प्रदाय के सबसे प्रसिद्ध शिक्षक, मक्काली गोशाला के अनुसार, जीवित प्राणियों के पाप का कोई कारण नहीं है। और न ही जीवों की पवित्रता का कोई कारण या आधार है। कोई भी कर्म किसी के भविष्य के जन्म को प्रभावित नहीं कर सकते। कोई भी मानवीय क्रिया, शक्ति, साहस या मानवीय सहनशीलता किसी की नियति को प्रभावित नहीं कर सकते। सभी व्यक्ति शक्ति, सामर्थ्य या नैतिक गुणों के बिना है। उनको नियाही, संयोग और प्रकृति प्रेरित करती है। (नीचे और अधिक विस्तार से आजिवकवाद के बारे में चर्चा करेंगे।

3) अजित केसकम्बलिन भिक्षा देने, बलि देने या आहुति देने में कोई श्रेय नही है। अच्छे या बुरे कर्म क्रमशः अच्छे या बुरे कर्म का कारण नहीं बनते हैं। आत्मा का कोई स्थानांतरणगमन नही है। कोई भी तपस्वी उचित मार्ग पर पूर्णता तक नहीं पहुँच सकता। मनुष्य चार तत्वों से बना है जब मरता है तो पृथ्वी तत्व पृथ्वी में विलीन हो जाती है, जल जल में, अग्नि अग्नि में, वायु वायु में, इन्द्रिय बोध अन्तरिक्ष में लुप्त हो जाता है।

4) पाकुध कच्छायनः सात अपरिवर्तनशील तत्व हैं। यह है पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, आनन्द, दुख और जीवन। भले ही एक आदमी दूसरे का सिर तलवार से काट दे, लेकिन वह उसकी जान नहीं लेता क्योंकि उसकी तलवार तो इन सात तत्वों से होकर गुज़रती है। यह अशाश्वत-वाद का सिद्धान्त है। ये सात तत्व किसी खुशी या दर्द का कारण नहीं बनते।

5) संजय बेलाथिपुत्ताः अगर आप मुझसे पूछते हैं, 'क्या कोई अन्य दुनियाँ है? और अगर मुझे लगता है कि दूसरी दुनियाँ थी, तो मुझे आपको वह बताना चाहिए। लेकिन मै वेसा नहीं कहता। मै नहीं कहता कि यह ऐसा है, मैं यह नहीं कहता कि यह अन्यथा है, मैं यह नहीं कहता कि ऐसा नहीं है; नहीं मैं कहता हूँ कि ऐसा नहीं है, नहीं मै कहता हूँ कि ऐसा नहीं-नहीं है'। स्पष्टतः ऊपर वर्णित पक्तियाँ व्यंग्यात्मक प्रकृति को रेखांकित करती हैं। यह संशयवादी शिक्षकों का झुकाव था जो उनके समक्ष रखे गये किसी आत्म-विषयक प्रश्न का कोई निश्चित जवाब देने के लिए तैयार नहीं हैं।

6) निगंध नातपुत्तः निगंध को जैन धर्म के 24वें तीर्थांकर वर्धमान महावीर के रूप में पहचाना जा सकता है। चर्तुमार्गी सयंम एक अवरोध है जो एक निगंध को घेरता है। सभी पापों से बचकर वह परिपूर्ण नियंत्रित और दृढ़ बन जाता है।

12.7 आजिवक संप्रदाय

आजिवक सम्प्रदाय का सबसे प्रमुख शिक्षक मक्काली गोशाला (चित्र 12.8) था।

चित्र 12.8 : तीसरी शताब्दी बी.सी.ई. में आजिवक की भिक्षु गुफाएँ (बराबर पहाड़ियां, गया के पास बिहार में स्थित)। श्रेयः फ्रेजर पेपे 1870। स्रोतः विकिमीडिया कॉमन्स https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Barabar_hill_with_Sudama_and_Lomas_Rishi_caves.jpg

वह एक समय महावीर के साथ निकटता से जुड़ा हुआ था, लेकिन बाद में एक अलग मार्ग पर चल पड़ा। आजिवक भाग्यवाद के सिद्धान्त में यकीन करते थे। इस सिद्धान्त के इर्द-गिर्द एक नया सम्प्रदाय विकसित हुआ जो नग्न घुमन्तु लोगों का था और जो तपस्चर्या के लिए समर्पित थे। वे मौर्य काल तक लोकाप्रिय थे। अशोक और उसके उत्तराधिकारी दशरथ ने भी आजिविकाओं को संरक्षण दिया था। इस अवधि के बाद, उत्तर भारत में, आजिवक समुदाय ने अपना प्रभाव खो दिया और जल्द ही महत्वहीन हो गया। बौद्ध धर्म, जैन धर्म और आजिवकवाद के तीन विधर्मी समप्रदायों में बहुत कुछ समान था। तीनों ही ब्राह्मणवादी धर्म के बलिदान संबंधी कर्मकांड और *उपनिषदों* के अद्वैतवादी सिद्धान्तों के खिलाफ थे। आजिविकाओं (चित्र 12.9) ने *वेदो* के प्राकृतिक मनुष्य गुणारोपण और *उपनिषदों* के विश्व-आत्मा सिद्धान्त के स्थान पर ब्रह्मंडीय सिद्धांतों की शुरुआत की। तीनों धर्मों ने ब्रह्मांड में प्राकृतिक नियम को मान्यता दी।

चित्र 12.9 : महापरिनिर्वाण की गांधार मूर्तिकला में एक आजिवक भिक्षक। श्रेयः डेडरो। स्रोतः बुद्ध के जीवन के चार दृश्य-परिनिर्वाण-कुषाण वंश दूसरी शताब्दी के उत्तरार्ध से तीसरी शताब्दी के आरंभ तक गांधार, शिस्ट, फ्रियर आर्ट गैलरी चित्र श्रेयः विकिमीडिया कॉमन्स (https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Ajivika_Monk_in_a_Gandhara_sculpture_of_the_Mahaparinirvana.jpg)

आजिवक नियति में यकीन करते थे जो सर्वव्यापी क्रम का सिद्धान्त था। उनके अनुसार नियति ही सब-कुछ, सभी क्रियाओं, सभी घटनाओं की नियंत्रित करती थी। मानवीय इच्छा शक्ति की कोई भूमिका नहीं थी और वह पूरी तरह निष्प्रभावी थी। इस प्रकार, कठोर निर्धारणवाद आजिवकवाद का केन्द्रीय सिद्धान्त था। उन्होंने सख्त तपस्चर्या को अपनाया जो अक्सर उपवास द्वारा मृत्यु में समाप्त होता था।

बौद्ध और जैन दोनों स्रोतों के अनुसार, मक्काली गोशाला ने ब्रह्मांड के प्रेरक कारक और दृश्य-परिवर्तन के एकमात्र घटक के रूप में नियति की धारणा को बुलंद किया। उनके लिए भाग्य की शक्ति का कोई कारण या आधार नहीं था जबकि कर्म को मानने वाले अन्य सम्प्रदाय पाप और पीड़ा को उत्तरदायी मानते थे। कर्म सदाचार से, व्रतों से, प्रायश्चित से, शुद्धता से अप्रभावित रहता था, लेकिन कर्म को अस्वीकृत नहीं किया गया। आजिविकाओं को आत्मा के स्थानान्तरणगमन में यकीन था और वह मानते थे कि प्रत्येक आत्मा को 84 लाख महाकल्प की अवधि से होकर गुज़रना ही पड़ेगा। सभी प्राणी *प्रारब्ध* (नियति), *सयोंग* (संगति) और *प्रकृति* (भाव) से प्रेरित थे।

वैदिक, बौध और जैन दार्शनिक प्रणालियाँ स्वतन्त्र इच्छा को कुछ स्थान देती हैं। भाग्यवाद उनमें प्रमुखता से नहीं आता है। यद्यपि कर्म के भारतीय सिद्धान्त को इस जन्म में या अगले जन्म में दुख और सुख का कारण माना जाता है, लेकिन व्यक्ति की स्वतंत्र इच्छा को श्रेय भी दिया जाता है जिससे वह सही कर्म चुनकर अपनी स्थिति सुधार सकता है और अन्नतः मोक्ष भी पा सकता है। इस सिद्धान्त का गोशाला ने विरोध किया।

12.8 नए धार्मिक आंदोलनों का प्रभाव

नये धार्मिक विचारों के प्रादुर्भाव एवं विकास ने समकालीन सामाजिक जीवन में कुछ विशेष परिवर्तन किए। उनमें कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन निम्नलिखित हैं :

i) इस काल में सामाजिक समानता के विचार को लोकप्रिय किया गया। बौद्ध तथा जैनियों ने जाति-व्यवस्था को कोई महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने विभिन्न जातियों के लोगों को अपने धर्म में स्वीकृत किया। युगों से समाज में ब्राह्मणों के स्थापित प्रभुत्व को यह एक महान चुनौती थी। बौद्ध व्यवस्था में महिलाओं को स्वीकार करने का समाज पर एक विशेष प्रभाव हुआ क्योंकि इस कार्य ने महिलाओं को पुरुषों के समान स्थान समाज में प्रदान किया।

ii) ब्राह्मणिक साहित्य में व्यवसाय करने वाले लोगों को छोटा स्थान दिया गया था। समुद्र यात्रा की भी निंदा की गई थी। लेकिन बौद्ध धर्म और जैन धर्म ने जाति व्यवस्था को कोई महत्त्व नहीं दिया और न ही समुद्र यात्रा को गलत समझा। इसलिए इन नये धर्मों ने व्यापारिक समुदाय को काफ़ी उत्साहित किया। इससे भी अधिक, इन दोनों धर्मों के द्वारा *कर्म* की अवधारणा पर भविष्य के जीवन के लिए बल देना अप्रत्यक्ष रूप से व्यापारी समुदाय की गतिविधियों के लिए अनुकूल था।

iii) नये धर्मों ने प्राकृत, पाली और अर्धमगधी जैसी भाषाओं को महत्त्व दिया। बौद्ध एवं जैन दर्शनों की इन भाषाओं में विवेचना की गई और बाद में धार्मिक पुस्तकों को स्थानीय भाषाओं में लिखा गया। इसने स्थानीय भाषाओं के साहित्य के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। जैनियों ने अपने धार्मिक उपदेशों को अर्धमगधी भाषा में लिखकर प्रथम बार साहित्य को मिश्रित भाषा में लिखने का स्वरूप प्रदान किया।

बोध प्रश्न 2

1) आजिवक कौन थे? उनके क्या विचार थे?

.....

.....

.....

2) निम्न कथनों में कौन-सा कथन (✓) सही है और कौन-सा गलत (×) निशान लगाइए।

i) व्यापार और वाणिज्य की वृद्धि ने विधर्मिक विचारों के उद्‌भव में मद्‌द की( )

ii) बुद्ध ने बोधगया में अपना पहला उपदेश दिया ( )

iii) महावीर ने ब्रह्मचर्य के विचार को पार्श्वनाथ के चार सिद्धांतों से जोड़ा ( )

iv) महावीर सर्वोच्च निर्माता में विश्वास नहीं करते थे ( )

v) निर्वाण की अवधारणा बौद्ध धर्म और जैन धर्म में समान है ( )

12.9 सारांश

इस इकाई में आपने लगभग छठी शताब्दी बी.सी.ई. में उत्तरी भारत में नवीन धार्मिक विचारों के उद्‌भव और स्थापित होने के विषय में पढ़ा। समकालीन सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओं ने इन नवीन धार्मिक विचारों के प्रादुर्भाव में विशेष योगदान दिया। इनमें से बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म अत्यधिक लोकप्रिय हुए। कुछ आपसी मतभेद होने के बावजूद दोनों धर्मों ने मानवता, नैतिक जीवन, *कर्म* और *अहिंसा* पर ज़ोर दिया। जाति-व्यवस्था, ब्राह्मणिक प्रभुत्व, पशु-बलि और ईश्वर के विचार के दोनों ही कठोर आलोचक थे। स्थापित वैदिक धर्म के लिए यह सीधी चुनौती थी। इसके अतिरिक्त अन्य भिन्नमत सम्प्रदायों जैसे *आजिवकों* और उनके विचारों के विषय में भी आपने जाना। इन सबके कारण सामान्य जन के दृष्टिकोण में एक विशेष परिवर्तन हुआ और इसके परिणामस्वरूप उन्होंने युगों पुरानी ब्राह्मणिक धर्म की सर्वोच्चता के प्रभुत्व पर प्रश्न लगाना आरंभ कर दिया।

12.10 शब्दावली

अहिंसा : किसी की हत्या न करना और न ही हिंसा करना।

विधर्मिक : गैर रूढ़िवादी।

भौतिकवाद : भौतिक वस्तुओं पर अधिक बल देना।

पिटक : बौद्ध धर्म के धार्मिक ग्रंथ।

पूर्व : जैनियों के धार्मिक ग्रंथ।

सम्प्रदाय : मत एवं विश्वास के आधार पर लोगों या गुटों का एकीकरण।

तीर्थांकर : जैन धर्म के वे विद्वान या गुरु जिन्होंने सर्वोच्च ''ज्ञान'' की प्राप्ति की।

12.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखिए भाग 12.3

2) देखिए भाग 12.4

बोध प्रश्न 2

1) आजिवक एक संप्रदाय था जिसका सबसे प्रमुख शिक्षक मक्काली गोशाला था। वह नीती या भाग्य के सिद्धांत में विश्वास करता था। कठोर निर्धारणवाद और परमाणु सिद्धांत, आजिविकाओं के दो केंन्द्रीय सिद्धांत थे। देखें भाग 12.7।

2) i) ✓ ii) × iii) ✓ iv) ✓ v) ×

12.12 संदर्भ ग्रंथ

ऑलचिन, ब्रिजेट तथा रेमंड (1988). *द राइज ऑफ सिविलाइजेशन इन इंडिया एण्ड पाकिस्तान.* नई दिल्ली।

घोष, ए. (1973). *द सिटी इन अर्ली हिस्टॉरिकल इंडिया.* शिमला।

कोसाम्बी, डी. डी. (1987). *द कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन ऑफ एशियंट इंडिया इन हिस्टॉरिकल आउटलाइन.* नई दिल्ली।

शर्मा, आर. एस. (1983). *मटीरियल कल्चर्स एण्ड सोशल फॉरमेशंस इन ऐशियंट इंडिया.* नई दिल्ली।

शर्मा, आर. एस. (1995). *पर्सपेक्टिवस इन सोशल एण्ड इकॉनोमिक हिस्टरी ऑफ एशियंट इंडिया.* नई दिल्ली।

वाग्ले, एन. के. (1966). *सोसाइटी एट द टाइम ऑफ द बुद्ध.* बॉम्बे।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY